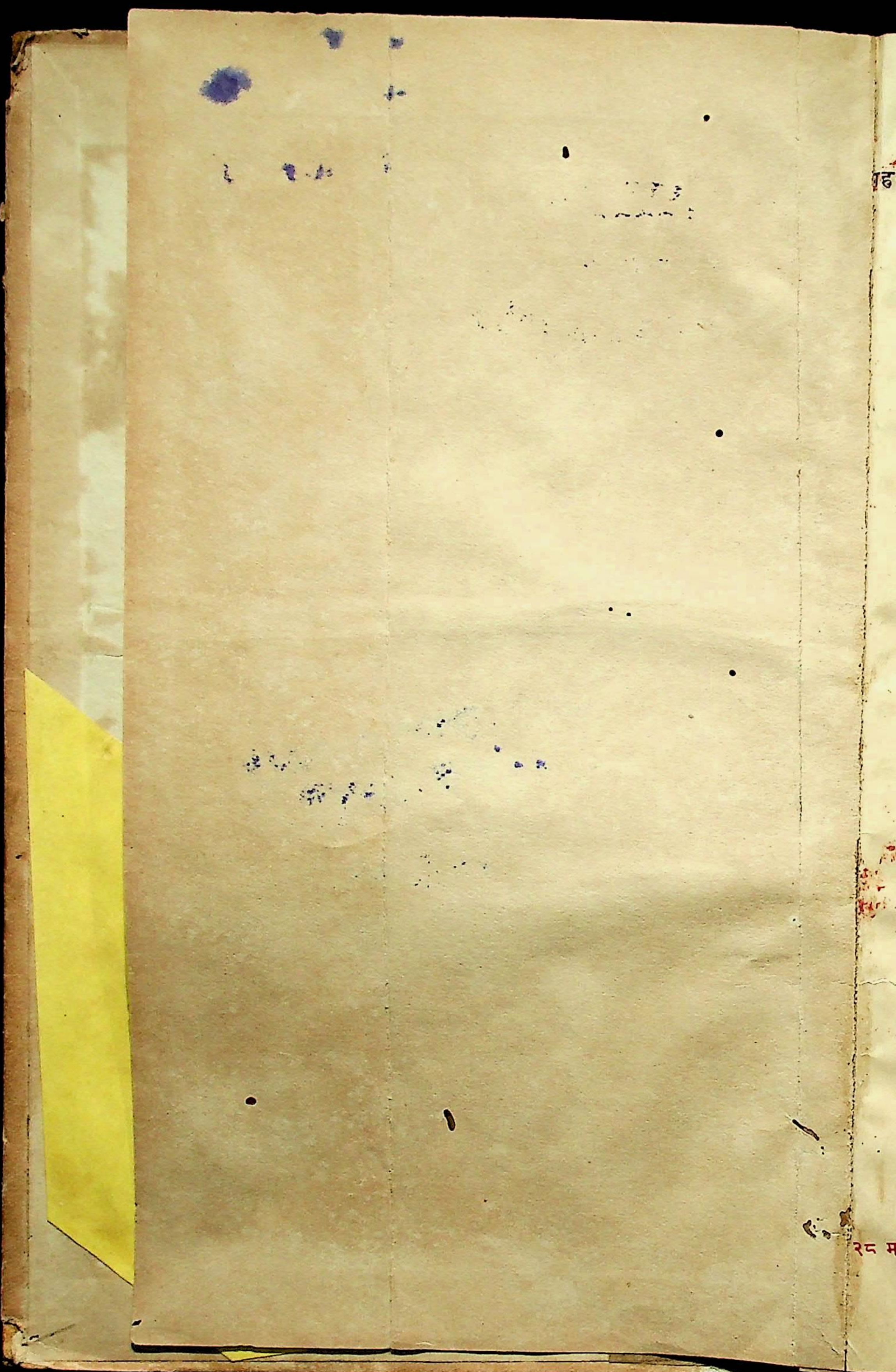
सुश्रुतसंहिता

शारीरस्थान

हिन्दी अनुवाद सहित

आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार



२८ मार्च १९३२]



[मूल्यम् १॥)



सुश्रुतसंहिता ।

[शारीर स्थानम्]

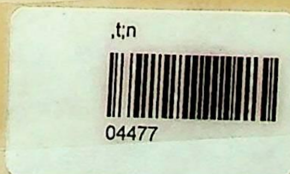
महामुनिना भगवता सुश्रुताचार्येण प्रणीता ।

आयुर्वेदाचार्य श्री जयदेव विद्यालङ्कारेण
प्रणीतया सञ्जीवनी समाख्यया
हिन्दी व्याख्यया समुल्लसिता ।

प्रकाशक--

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास—अध्यक्ष
संस्कृत पुस्तकालय-सैदमिट्ठा बाज़ार,
लाहौर ।

[२८ मार्च १९३२]



[मूल्यम् १॥)

भूमिका

आयुर्वेद के सुश्रुत अग्निवेश आदि प्राचीन आचार्यों ने आयुर्वेद को मोटे तौर पर आठ अङ्गों में विभक्त किया था। वे आठ अंग ये हैं—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारतन्त्र, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र, वाजीकरणतन्त्र। इन आठों तन्त्रों का ज्ञाता ही पूर्ण वैद्य कहलाने के योग्य होता है। इन तन्त्रों का वर्णन पृथक् २ आचार्यों ने पृथक् २ ग्रन्थों में किया था। परन्तु दैवदुर्विपाक से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें से सुश्रुतसंहिता एवं चरकसंहिता ही मूलग्रन्थ हैं। सुश्रुतसंहिता में मुख्यतः शल्यशास्त्र (Surgery) का ही वर्णन है। यद्यपि उत्तरतन्त्र में शालाक्य आदि का भी संक्षेप से वर्णन है। चरकसंहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कायचिकित्सा है। दोनों चिकित्साओं के लिये ही शरीर की रचना का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। इस रचना को दर्शाने के लिये ही दोनों ग्रन्थकारों ने शारीरस्थान का प्रवचन किया है। परन्तु इस स्थान का वर्णन दोनों में से किसने अच्छा एवं यथार्थ किया है; इस विषय में उक्ति है:—"शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः" अर्थात् सुश्रुतसंहिता का शारीरस्थान सब से श्रेष्ठ है। अतएव सम्पूर्ण आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे पाठ्यत्वेन नियत किया गया है। इस शारीरस्थान की हिन्दी टीका भी समुपलब्ध होती है, परन्तु उससे विद्यार्थियों को उचित सन्तोष नहीं होता। अतएव प्रकाशक महोदयों ने एक नवीन समयोपयोगी एवं स्पष्ट अर्थ को जताने वाली व्याख्या लिखने के लिये मुझ से आग्रह किया। मैंने उनके कहने को न टालते हुए यथाशक्ति व्याख्या को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। मैं अपने प्रयत्न में सफल या असफल रहा इसका निर्णय करना सहृदय वैद्यों का कर्तव्य है। परन्तु 'गच्छतः स्खलनं क्वाऽपि भवत्येव प्रमादतः' के अनुसार प्रमादवश त्रुटियां अवश्य ही रह गई होंगी; उन्हें विज्ञ वैद्य स्वयं ही शुद्ध कर लेंगे और मुझे द्वितीय संस्करण को शुद्ध एवं सुचारु रूप में रखने के लिये उचित साहाय्य देंगे।

लाहौर
२६ चैत्र १९८८

आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार





शारीरस्थानगतविषयाणामनुक्रमणिका

चतुर्थोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः

सप्तमोऽध्यायः

अष्टमोऽध्यायः

नवमोऽध्यायः

दशमोऽध्यायः



सुश्रुतसंहिता।

शारीरस्थानम्।

सञ्जीवनीव्याख्यासमेतम्।

प्रथमोऽध्यायः।

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः[1] ॥ १ ॥

अब सम्पूर्ण प्राणि सम्बन्धी विचार के लिये शारीर (शरीर सम्बन्धी विज्ञान Anatomy, Physiology, Midwifery Etc.) की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपम्[2]खिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां[3] क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां[4] भावानाम् ॥ २ ॥

सृष्ट्युत्पत्ति—सम्पूर्ण प्राणियों का कारण अव्यक्त है। वह स्वयं अकारण-कारण रहित है। सांख्यकारिका में कहा भी है-'मूलप्रकृतिरविकृतिः'।

---

१ यथोवाचेत्यादि केचिन्न पठन्ति। इदं च प्रतिसंस्कर्तृसूत्रम्। यत्र यत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यम्।

२ अष्टरूपमिति प्रकृतिभावेनैवाव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टौ रूपाणि यस्य तत्तथा। प्रकृतित्वं चाष्टानामव्यक्तादीनां सांख्येऽपि प्रतिपादितमस्ति। अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चभूतानीत्यष्टौ रूपाणीत्येके। केचित्तु धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यष्टौ रूपाण्याहुः। अपरे मनोबुद्ध्यहङ्कारमहाभूतान्याहुः।

३ 'अनेकेषां' इति पाठान्तरम्।

४ उदकभवा औदका नदीनदसरस्तडागादयः, अथवा औदकभावा चराचरा मत्स्यशिलोच्चयादयः।

सत्त्व, रज तथा तमः स्वरूप है, आठ रूपों वाला है, और इस अखिल विश्व का उत्पत्ति-कारण है। जैसे एक समुद्र बहुसंख्यक जलजन्तुओं का आश्रय होता है, वैसे, वह एक होता हुआ भी बहु (अनेक) संख्यक क्षेत्रज्ञ अर्थात जीवात्माओं का आश्रय है ॥ २ ॥

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव; तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ॥ ३ ॥

इस अव्यक्त से तत्स्वरूप अर्थात् सत्त्व-रजस्तमःस्वरूप महान्-महत्तत्त्व बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है और सत्त्वादिस्वरूप बुद्धितत्त्व से सत्त्वादि-स्वरूप ही अहङ्कार उत्पन्न होता है। ये अहङ्कार तीन प्रकार का है, १—वैकारिक—सात्त्विक २—तैजस—राजस ३—भूतादि—तामस ॥ ३ ॥

तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते ॥ ४ ॥

तैजस-राजस अहङ्कार के साहाय्य द्वारा वैकारिक-सात्त्विक अहङ्कार से तत्स्वरूप ही ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। अर्थात् इन्द्रियां सत्त्व प्रधान हैं। यद्यपि ग्यारहों इन्द्रियां ही सत्त्व प्रधान हैं, परन्तु राजस अहङ्कार की सहायता होने के कारण ज्ञानेन्द्रियों और मन में जितना सत्त्व प्रधान है, कर्मेन्द्रियों में उतना नहीं। अथवा इसकी व्याख्या हम इस प्रकार भी कर सकते हैं—चूंकि वैकारिक तथा तैजस दोनों के द्वारा ही इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, अत एव मन और ज्ञानेन्द्रियां तो सत्त्व प्रधान और कर्मेन्द्रियां रजःप्रधान होती हैं ॥ ४ ॥

तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः ॥ ५ ॥

वह ग्यारह इन्द्रियां इस प्रकार हैं—१ श्रोत्र १ त्वचा ३ चक्षु ४ जिह्वा ५ घ्राण (नाक) ६ वाक् (वाणी) ७ हाथ ८ उपस्थ ९ गुदा १० पांव

१ 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति शास्त्रपद्धतिं लोकव्यवहारसरणिं वानुसृत्याचार्येण तैजससहायाद्वैकारिकादहङ्कारादिन्द्रियाणामुत्पत्तिर्निदर्शिता, वस्तुतस्तु सात्त्विकात् (वैकारिकात्) अहङ्कारात् राजस (तजैस) सहायात् तमोमात्रयानुविद्धादेकादशेन्द्रियाणीति वाच्यम्।

२ तल्लक्षणानि प्रकाशलक्षणानि। सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात्।

११ मन । इन में से पहिली पांच ज्ञानेन्द्रियां और दूसरी पांच कर्मेन्द्रियां हैं । मन, ज्ञान तथा कर्म उभयस्वरूप है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही मनोऽधिष्ठित होती हुई स्व २ विषय में प्रवृत्त होती हैं ॥ ५ ॥

भूतादेरपि[1] तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव[2] पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते[3], तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति; तेषां विशेषाः[4] शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः; तेभ्यो[5] भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥ ६ ॥

और तैजस अहंकार के साहाय्य द्वारा भूतादि—तामस अहंकार से तत्स्वरूप-तमः प्रधान पांच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं । वह इस प्रकार हैं—१ शब्द-तन्मात्र २ स्पर्श-तन्मात्र ३ रूप-तन्मात्र ४ रस-तन्मात्र ५ गन्ध-तन्मात्र।

सांख्यकारिका में कहा भी है—

> सात्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकारिकादहङ्कारात् ।
> भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥

पांचों तन्मात्र अविशेष—सामान्य हैं, क्योंकि ये अव्यक्त हैं और इन में परस्पर भेद की प्रतीति नहीं होती । विष्णु पुराण में कहा भी है—

> तस्मिंस्तास्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता ।
> तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते ॥

इन तन्मात्र के विशेष—भेदक गुण (उद्भूतावस्था में) ये होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध । अर्थात् शब्द द्वारा, शब्द तन्मात्र; स्पर्श-तन्मात्र आदि से विभिन्न किया जाता है । इसी प्रकार स्पर्श, स्पर्शतन्मात्र को अवशिष्ट तन्मात्रों से भिन्न कर देता है; इत्यादि ।

---

१ अत्रापि सत्वमात्रयानुविद्धादिति वाच्यम् ।

२ तल्लक्षणानि-मोहादिलक्षणानि ।

३ अनुद्भूतस्वभावानि बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि शब्दादीन्येव तन्मात्राणि ।

४ विशेषा इति-अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशिष्यन्त इति विशेषाः । तन्मात्राणि त्वविशेषाणि, यतस्तानि सुखदुःखादिभिर्विशेष्टुं न शक्यन्ते ।

५ तेभ्यः पञ्चभ्यः शब्दतन्मात्रादिभ्यः एकोत्तरपरिवृद्धया व्योमादय उत्पद्यन्ते । तद्यथा-शब्दतन्मात्राच्छब्दगुणं व्योम । शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुः । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः । एवमग्रेऽपि । पातञ्जलास्तु शब्दादिभ्य एव व्योमादीनामुत्पत्तिमिच्छन्ति ।

इस पञ्चतन्मात्र से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी; ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार २४ तत्त्वों की व्याख्या यहां करदी है। हम उन्हें पुनः यहां स्पष्ट करके लिख देते हैं।

१-अव्यक्त २-महत्तत्त्व ३-अहङ्कार ४-श्रोत्र ५-त्वचा ६-चक्षु ७-जिह्वा ८-घ्राणेन्द्रिय ९-वाणी १०-हाथ ११-उपस्थ १२-गुदा १३-पांव १४-मन १५-शब्द-तन्मात्र १६-स्पर्श-तन्मात्र १७-रूप-तन्मात्र १८-रस-तन्मात्र १९ गन्ध-तन्मात्र २०-आकाश, २१-वायु २२-अग्नि २३-जल २४-पृथिवी ६

तत्र, बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः; कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥ ७ ॥

इन्द्रियों के विषय—इन में से श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः शब्द आदि विषय हैं। जैसे १ श्रोत्र-शब्द २ त्वचा-स्पर्श ३ चक्षु-रूप ४ जिह्वा-रस ५ घ्राण—गन्ध। कर्मेन्द्रियों के क्रमशः वचन, आदान (लेना देना), आनन्द, विसर्ग (त्याग—मलत्याग), विहरण (चलना फिरना); ये विषय हैं। अर्थात् वाणी का वचन, हाथ का आदान, उपस्थेन्द्रिय का आनन्द, पायु-गुदा का विसर्ग तथा पांव का विहरण विषय है ॥ ७ ॥

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः; शेषाः षोडश विकाराः ॥ ८ ॥

अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पांच तन्मात्रा ये आठ प्रकृति हैं। शेष सोलह अर्थात् ग्यारह इन्द्रिय तथा पांच महाभूत; ये विकार हैं।

यद्यपि महत्तत्त्व आदि भी विकृति-कार्य हैं, परन्तु ये अन्य तत्त्व को भी पैदा करते हैं, अतः विकृति के साथ २ प्रकृति-कारण भी हैं। परन्तु ग्यारह इन्द्रिय और पंच महाभूत किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करते, अतः केवल विकृति ही हैं। यहां पर प्रकृति से अभिप्राय तत्त्वान्तर के उपादान से ही है। अत एव सांख्यकारिका में स्पष्ट लिखा है—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
शेषाः षोडश विकाराः.................." ॥ ८ ॥

स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं; स्वयमध्यात्मं; अधिदैवतं तु[1]—बुद्धेर्ब्रह्मा, अहङ्कारस्येश्वरः, मनसश्चन्द्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः,

---

१ 'अधिदैवतमथ' इति पा०।

सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति ॥ ९ ॥

इन बुद्धि, अहङ्कार आदि का अपना २ विषय आधिभौतिक है-भूतों के आधीन है। स्वयं आध्यात्मिक हैं। अधिदैवत जैसे—बुद्धि का देवता ब्रह्मा है। अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र की दिशायें, त्वचा का वायु, चक्षुओं का सूर्य, जिह्वा का जल, घ्राण (नाक) का पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पांवों का विष्णु, पायु-गुदा का मित्र और उपस्थ का देवता प्रजापति है ॥ ९ ॥

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकरण-संयुक्तश्चेतयिता भवति । सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्ति-मुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥ १० ॥

ये चौबीस के चौबीस तत्त्व जड़ हैं। पचीसवां तत्त्व पुरुष (जीवात्मा) है। यह पुरुष कार्य-देह तथा करण-इन्द्रियों से संयुक्त होता हुआ ही ज्ञान कराने वाला अथवा चेतनता देने वाला होता है।

यद्यपि प्रधान—प्रकृति जड़ है, तो भी पुरुष के कैवल्य मोक्ष के लिये उसकी प्रवृत्ति होती है; ऐसा सांख्यवादियों का मत है। और उस में हेतु—युक्ति ये बताते हैं—

> वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
> पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥

अर्थात् जैसे दूध के स्वयं अज्ञ—ज्ञानरहित होते हुए भी बच्चे की वृद्धि के लियें उसकी प्रवृत्ति (क्षरण रूप) होती है, उसी प्रकार अव्यक्त-प्रधान प्रकृति यद्यपि स्वयं अचेतन-जड़-ज्ञानरहित है, परन्तु तो भी पुरुष (क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा) के मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होती है ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा-उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यपरौ, उभौ च सर्वगताविति; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा

---

१ 'वचसोऽग्निः' इति पा० । २ कार्यकारणसंयुक्तः इति पाठे, कार्येण महदादिविकारगणेन कारणेन मूलप्रकृत्या, संयुक्तः इति डल्हणः । ३ उभावप्यनपरौ इति पाठान्तरे, न विद्यतेऽपरो याभ्यां तावनपरौ । यतस्ताविव प्रकृतिपुरुषौ महदादिभ्यः परौ ।

बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ॥ ११ ॥

इस के अनन्तर अब प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य और वैधर्म्य बताये जांयगे। अर्थात् किन २ बातों में समानता और किन २ बातों में असमानता है। प्रथम साधर्म्य—समानता बताते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं, अनन्त हैं, आकार रहित हैं, नित्य हैं, अपर हैं (इन से परे कोई दूसरा नहीं है), और दोनों ही व्यापक हैं।

वैधर्म्य=असमानतायें ये हैं—

असमानतायें।

प्रकृति।	पुरुष।
१—एक है।	१—अनेक हैं, बहुत हैं।
२—जड़ है।	२—चेतन हैं।
३—सत्व, रज तथा तम; इन तीन गुणों वाली है।	३—निर्गुण हैं।
४—बीज धर्म वाली है, अर्थात् जैसे बीज से वृक्ष पैदा होता है; इसी प्रकार यह भी संसार को पैदा करने की शक्ति रखती है।	४—बीज धर्म रहित हैं।
५—प्रसव धर्म वाली-उत्पन्न करने वाली-कार्यरूप में आने वाली है।	५—प्रसव धर्म रहित हैं।
६—अमध्यस्थ—धर्मिणी अर्थात् सुख दुःख को भोगने वाली है।	६—मध्यस्थ धर्मी हैं, अर्थात् सुख-दुःख रहित हैं।

१ बीजधर्मिणी—सत्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्थायां स्थिता सर्वेषां महदादिविकाराणां बीजभावेनावस्थिता बीजधर्मिणीत्युच्यतेऽथवा संहारे भूतेन्द्रियतन्मात्राहङ्कारमहदादीनामाधारभूतेति बीजधर्मिणी।

इन दोनों के सुख दुःख के भोगने के विषय में कहा भी है—

'तस्मान्न बध्यतेऽध्वा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥'

अर्थात् न तो आत्मा पैदा होता है, न बंधता है और न मुक्त होता है। यह तो त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, जो पैदा होती है, बंधती है और मुक्त होती है ॥ ११ ॥

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥ १२ ॥

कारण के अनुरूप ही कार्य हुआ करता है—इस सिद्धान्त के अनुसार ही आकाश आदि सम्पूर्ण विशेष-कार्य सत्व-रज एवं तमोमय होते हैं। अत एव कहा है—

.........'तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ताः घोराश्च मूढाश्च ॥'

इस प्रकृति के साथ पुरुष का संसर्ग होने के कारण तन्मय-प्रकृतिमय होने से पुरुष भी सत्व, रज तथा तमोमय होते हैं, ऐसा कई विद्वानों का मत है। अर्थात् पुरुष (जीवात्मा) स्वयं इन सत्त्व आदि गुणों से रहित है, परन्तु उसको प्रकृति के संसर्ग से सुख और दुःख का भान होता है। जैसे गुलाब के फूल और स्फटिकमणि के पास २ पड़े होने से जब गुलाब का प्रतिबिम्ब स्फटिकमणि में पड़ रहा होता है, तब ऐसा भान होता है, कि यही (स्फटिकमणि) ही गुलाब है और उसे उठाने को बढ़ता है। उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के अत्यन्त समीप होने के कारण दोनों में अभिन्नता की प्रतीति होने से पुरुष में बुद्धि की वृत्तियों का आरोप करके 'मैं शान्त हूं', 'मैं दुःखित हूं' 'मैं मूढ़ हूं' इस प्रकार निश्चय करलेता है।

अथवा जैसे कोई पुरुष एक मैले दर्पण में अपने मुख को देख कर ये समझ ले, कि मेरा मुख मैला है और शोक करने लगे, वैसे ही यहां समझना चाहिये ॥ १२ ॥

वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।

परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ १३ ॥

वैद्यक में तो विपुल बुद्धि लोग स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति (दैव, पूर्वजन्मार्जित धर्माधर्म) तथा परिणाम; इन छहों को ही कारण मानते हैं।

इस संहिता में इन छहों के उदाहरण मिलते हैं। यथा—'अङ्ग प्रत्यङ्ग-निर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते' में स्वभाव को ही यथाजाति अङ्गप्रत्यङ्ग के प्रकट होने में कारण बताया है। इसी प्रकार 'सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः' इस सन्दर्भ द्वारा शरीर का ढांचा तथा दांतों के गिरने और पैदा होने आदि में स्वभाव को ही कारण बताया है। इसी प्रकार अग्निरूपी ईश्वर की बल में कारणता दिखाते हैं—'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते। अग्निमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितम्'। दोषों के संचय, प्रकोप तथा शान्ति में काल की कारणता दिखाते हुए कहा है—'महाभूतविशेषांस्तु शीतोष्णद्वयभेदतः। काल इत्यध्यवस्यन्ति'। किसी पदार्थ का अचानक हो जाना ही यदृच्छा का अभिप्राय है; इसकी करणता भी बताई है—'यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः'। नियति अर्थात् धर्माधर्म की कारणता-'कर्मजाःव्याधयः केचित्' एवं कुष्ठ निदान में—'ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणा-दिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्।' परिणाम की हेतुता—'जाठराग्नेस्तु संयोगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः।' 'ता एवौषध्यः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च।' 'सम्यक् परिणतस्याहारस्य सारो रसः।' 'बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति।' इस प्रकार छहों की कारणता है। वस्तुतस्तु ये छहों गुणत्रयात्मिका प्रकृति के अन्तर्भूत ही हैं। केवल उस समय स्वभाव आदि रूप में ही भासमान होने से उनके वे २ नाम होजाते हैं। अथवा 'च' को समुच्चयार्थक मान कर इनको पृथक् २ मानते हुए इनकी समुच्चयरूप से कारणता मानी जाती है। इस पक्ष को मानने वाले स्वभाव आदि पांच को निमित्त कारण तथा प्रकृतिपरिणाम को उपादान कारण मानते हैं।

परन्तु हाराणचन्द्र[2] इसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं।

पृथु-दर्शी (मोटी बुद्धि वाले, सूक्ष्म विचार न करने वाले) लोग स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति तथा परिणाम को ही प्रकृति समझते हैं। प्रकृति से अभिप्राय जगत् के उपादान कारण का है। जैसे मट्टी, घड़े का उपादान कारण है। परन्तु कुछ तो इनमें से कारण ही नहीं हो सकते और कुछ निमित्त कारण हैं ॥१३॥

तन्मयान्येव[2] भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।

---

१ हाराणचन्द्रस्तु—"एवं मतान्तरमनुसन्धाय स्वमतमुपदिदिक्षुः प्रथमं तावत् कानिचित् परकीयमतानि कटाक्षयन्नाह वैद्यक इत्यादि—वैद्यं चिकित्सकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वैद्यकः। तुकारेण प्रागुक्तां प्रकृतिं निरुणद्धि। प्रकृतिं जगतो मूलकारणम्। न खल्वेते प्रकृतिवादाः कथमपि प्रभवन्ति तात्त्विकीं बुद्धिमधिरोढुं सोढुं वा कमपि विचारमित्यसूक्ष्मदर्शित्वेनैवं वादिनां न्यक्कारार्थमिदमुच्यते पृथुदर्शिन इति। तथाहि स्वभावश्चेत्प्रकृतिः किन्तर्हि स्व एव भावः प्रकृतिः आहोस्वित् स्वीयो भावः। तत्राद्ये स्वं प्रति स्वस्य हेतुत्वं प्रसज्येत, तन्नेष्यते पूर्ववर्तिन एव हेतुत्वादन्योन्याश्रयप्रसंगाच्च, द्वितीयेऽपि स एव दोषो धर्मस्य धर्मिणि हेतुत्वात्। ये तु पुनः पृथिव्यादीनां नित्यत्वमभ्युपगम्य तेषां स्वभावः प्रकृतिरित्याहुस्तन्मतमप्यश्रद्धेयम्, अचेतनेभ्यः प्राणिशरीराणामुत्पत्त्यनुपपत्तेः। आम्नायते हि-"द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्" इति। मदशक्तिवत् कथञ्चिदभ्युपगमेऽपि योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एवैतर्हि प्रणप्तॄननुभवामीति बाल्येऽनुभूतस्यार्थस्य स्थाविरे स्मरणं नोपपद्यते, अवयवोपचयापचयतः शरीराणामुत्पादविनाशित्वाभ्युपगमात्। तथा च कुसुमाञ्जलिः—"नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्" इति, एकं भूतमेकं शरीरं, अपक्रमात् तत्तच्छरीरपरिमाणनाशेन परिमेयस्य शरीरस्यापि नाशादित्यर्थः। एतेनैव परिणामवादिनां मतमप्यपास्तम्, परिणामो हि पञ्चानां पृथिव्यादीनां परिणतिरुच्यते। ईश्वरः सर्वभूतोत्पत्तौ निमित्तकारणम् न तु मूलं तत्तत्पौर्वदैहिककर्मसापेक्षत्वात्, अन्यथा वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्, तथाच भगवान् बादरायणः 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' इति। कालश्चेदीश्वरादनन्यस्तर्हि नैवोपादानम्, क्रियात्मकत्वे तु क्रियाया उत्पत्तिमत्त्वान्मूलकारणत्वोक्तिरविचारिताभिधानमात्रम्। यदृच्छावादे कार्यस्याकस्मिकत्वपर्यवसानात् नियतत्वमसंगतं स्यात्, नोपपद्यन्ते च "एष ह्येव साधु कर्म कारयति यं यमूर्द्ध्वं निनीषति" इत्याद्याः कर्मविशेषतः फलविशेषाभिधायिन्यः श्रुतयः। नियतिस्तु कर्मजन्यमदृष्टं तदपि निमित्तकारणमेव नोपादानमित्युपपन्नं भवत्येतेषां पृथुदर्शित्वम्"। इति व्याख्यानयति।

२ तन्मयानीति अवकाशचलोष्णद्रवखरस्वभावादिधर्मविशेषाक्रान्तप्रकृतिपरिणाममयानीति डल्हणः।

ततो जातानि भूतानीति पाठान्तरे ततः स्वभावादेः निमित्तकारणत्वात् प्रकृतिपरिणामाच्चोपादानकारणानि भूतानि आकाशादीनि, तद्गुणानि कारणगुणानि जातानि।

तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥ १४ ॥

वस्तुतस्तु पञ्च महाभूत, प्रकृतिमय (प्रकृति स्वरूप) तथा प्रकृति के गुणों (सत्व, रज, तम) से युक्त जानने चाहियें । इन महाभूतों से तल्लक्षण (तदाकार-भूतों के लक्षणों से युक्त) सम्पूर्ण भूतग्राम (स्थावर-जङ्गम रूप) पैदा हुआ ॥१४॥

तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा ।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥१५॥

इस भूतग्राम का, सदा से ही चिकित्सार्थ उपयोग कहा गया है, यतः चिकित्सा में भूतों से पर अर्थात् क्षेत्रज्ञ अव्यक्त आदि का अथवा जीवात्मा का चिकित्सोपकरण रूप में विचार ही नहीं किया जाता । सूत्र-स्थान में कहा भी है—'लोको हि द्विविधः स्थावरो जंगमश्च'। तत्र-पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्' । इत्यादि ॥१५॥

यतोऽभिहितं—तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः; भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥ १६ ॥

पहिले कहा है कि 'पुरुष ग्रहण से ही पुरुष से उत्पन्न होने वाले शुक्र शोणित आदि द्रव्यसमूह-जिनका कारण पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत हैं-का भी निर्वचन होगया है' ऐसा समझना चाहिये

आयुर्वेद में इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषयों को भी भौतिक ही वर्णन किया गया है ॥१६॥

सांख्यशास्त्र में वैकारिक अहङ्कार से ग्यारहों इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है । भूतादि अहंकार से शब्द-तन्मात्र आदि पांच तन्मात्र की उत्पत्ति का वर्णन है और इस से पञ्चमहाभूत की उत्पत्ति मानी है । इस प्रकार इन्द्रियों की और भूतों की पृथक् २ उत्पत्ति होने के कारण इन्द्रियों को भौतिक नहीं माना जा सकता । परन्तु—

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१७॥

मनुष्य इन्द्रियों द्वारा निश्चय से ही अपने २ इन्द्रिय के विषय का ही तुल्ययोनि (समान कारण) होने से ग्रहण करता है । अभिप्राय यह है

कि मनुष्य श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द को ही सुनता है, गन्ध को नहीं सूंघ सकता या स्पर्श नहीं कर सकता इत्यादि। इसका केवल कारण यही हो सकता है कि ये तुल्य-योनि हों। अर्थात् आकाश-गुण शब्द को ग्रहण करने के लिये आकाशीय इन्द्रिय ही चाहिये। पृथिवी का गुण गन्ध है, अतएव वह आकशीय इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह पार्थिव-इन्द्रिय घ्राण द्वारा ही गृहीत होगा। अर्थात् घ्राण आदि इन्द्रियों के भौतिक (पार्थिव आदि) होने को, हम अनुमान प्रमाण द्वारा जान सकते हैं। 'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतादिवत्।

विषयों को भौतिक बताते हुए तन्त्रान्तर में कहा है—

शब्दो वैहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः।
रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः ॥१७॥

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति ॥ १८ ॥

आयुर्वेद शास्त्र में क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा को सर्वगत विभु एवं नित्य नहीं माना जाता, अपितु असर्वगत-अविभु-अणुपरिमाण होने के साथ २ ही नित्य कहा गया है। उस अणु आत्मा की नित्यता की पुष्टि के लिये पुरुष की नित्यता को जताने वाले हेतु ही दिये जाते हैं। जैसे, यदि क्षेत्रज्ञ आत्मा को हम अणु और नित्य न मानें तो 'पूर्वदेह का त्याग, अपर देह का ग्रहण, परलोक–गमन आदि असम्भव हो जांयगे। तथा च अनित्य मानने से 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एव स्थाविरे प्रणप्तृननुभवामि' अर्थात् जो मैं बचपन में माता पिता के सुख का अनुभव करता रहा हूं, वह ही, मैं बुढ़ापे में पोतों का सुख अनुभव कर रहा हूं–ऐसा ज्ञान होना सम्भव नहीं। तथा जो सत् तो हो, पर कारण रहित हो वह नित्य होता है। सुख आदि लिङ्गों द्वारा आत्मा की सत्ता का ज्ञान होता है, और इस (आत्मा) का कारण भी नहीं, अतःभी ये नित्य है। अत एव कहा भी है––

शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः।
देहाद्देहान्तरं याति क्रिमिवच्छाश्वतोऽव्ययः॥
नित्य इत्युच्यते सद्भिः सन्नकारणवान् यतः ॥१८॥

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं; त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥ १९ ॥

आयुर्वेद शास्त्रों का यह सिद्धान्त है कि धर्म तथा अधर्म अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के कारण ही अणुपरिमाण वाले तथा नित्य क्षेत्रज्ञ—आत्मा तिर्यग्योनि, मनुष्य-योनि तथा देव-योनियों में सञ्चरित होते हैं—फिरते हैं।

इन आत्माओं को हम अनुमान प्रमाण द्वारा ही जान सकते हैं। ये आत्मा परम सूक्ष्म, चेतन तथा नित्य हैं। शुक्र तथा शोणित के संयोग होने पर ही ये प्रकट होते हैं। शरीरेन्द्रिय—रहित जीवात्मा की चेतनता का भान नहीं होता। अर्थात् जिसके रहने से शरीर चेतन प्रतीत होता है और जिस के न रहने से जड़ हो जाता है, वही आत्मा है। पहिले कहा भी गया है, कि पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग को ही पुरुष कहते हैं। यही कर्मपुरुष चिकित्सा का अधिकरण है। चरक संहिता में भी कहा गया है—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ १९ ॥

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः २०

उस आयुर्वेदोक्त आत्मा या कर्मपुरुष के सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय (निश्चयात्मिका बुद्धि) और विषयोपलब्धि (इन्द्रिय द्वारा विषय ज्ञान); ये गुण हैं।

इससे पूर्व ही कहा गया है कि आत्मा अनुमान द्वारा जाना जाता है। अत एव गुणों का निर्देश किया गया है। गुण सर्वदा गुणी में रहते हैं।

---

१ 'आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः' इति पा०।

सुख आदि गुण जिस गुणी में रहते हैं, वही आत्मा है। क्योंकि ये गुण भूत आदि के नहीं हैं। अतः उनसे अतिरिक्त कोई द्रव्य होना चाहिये जिसमें ये गुण रहते हों-वही आत्मा है ॥२०॥

सात्त्विकास्तु–आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च; राजसास्तु दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च; तामसास्तु–विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥ २१ ॥

अक्रूरता, संविभाग-रुचिता (अन्न आदि को बांटकर उपभोग करने में रुचि होना), तितिक्षा (सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहना), सत्य, धर्म, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धैर्य, अनभिषङ्ग (कर्म करते हुए उसमें लिप्त न होना अथवा फल की इच्छा न करते हुए श्रेष्ठ कर्म करना); ये सात्त्विक गुण हैं।

दुःख की अधिकता, अटनशीलता (अत्यधिक चलते फिरते रहना), अधीरता, अहङ्कार, असत्य बोलना, दयाहीनता-क्रूरता, दम्भ (छल, कपट), मान, हर्ष, काम तथा क्रोध; ये राजस गुण हैं।

विषादिता, नास्तिकता, पापाचरण, बुद्धि द्वारा विचार न करना, अज्ञान, मेधा अर्थात् धारणात्मिका बुद्धि का ठीक न होना, कर्म न करना तथा निद्रालुता–आलस्य ये तामस गुण हैं ॥२१॥

इस के अनन्तर भूत सम्बन्धी गुणों को दर्शाते हैं —

आन्तरिक्षास्तु–शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु–स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसास्तु–रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः[1] सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च; आप्यास्तु-रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च; पार्थिवास्तु–गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो[2] गुरुता चेति ॥ २२ ॥

शब्द, शब्द की इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, सम्पूर्ण छिद्र अर्थात् अवकाश, विविक्तता (एक दूसरे का पृथक् होना); ये सब आकाश के धर्म हैं।

१ वर्णसन्तापौ इति पा० ।
२ सर्वमूर्त्तिसमूहो इति पा० ।

स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय–त्वचा सम्पूर्ण चेष्टायें, सम्पूर्ण शरीरों का स्पन्दन–गतियुक्त होना, लघुता–हलकापन; ये सब वायु के धर्म हैं।

रूप, रूपेन्द्रिय–चक्षु, वर्ण, सन्ताप (ऊष्मा–गर्मी), दीप्ति, पक्ति–जठराग्नि–परिपाक, अमर्ष–असहनशीलता, तीक्ष्णता, शूरता; ये सब तैजस धर्म हैं।

रस, रसनेन्द्रिय–रसना (जिह्वा), सम्पूर्ण द्रव, गुरुता-भारीपन, शीतता, स्नेह, वीर्य; ये सब आप्य-जल सम्बन्धी धर्म हैं॥

गन्ध, गन्धेन्द्रिय-घ्राण, सम्पूर्ण मूर्त्त (ठोस) पदार्थ, गुरुता; ये पृथिवी के धर्म हैं॥२२॥

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति॥ २३॥

इन पांचों में से आकाश सत्त्वप्रधान है, वायु रजःप्रधान, अग्नि सत्त्वरजःप्रधान, जल सत्त्वतमः-प्रधान और पृथिवी तम-प्रधान है॥२३॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते॥ २४॥

ये आकाश आदि भूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं। अर्थात् उत्पत्ति-क्रम के अनुसार एक के धर्म दूसरे में चले जाते हैं। उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार हैः—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी। अर्थात् आकाश का गुण शब्द; वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी में भी चला जाता है। वायु का गुण स्पर्श; अग्नि, जल और पृथिवी में भी है। अग्नि का गुण रूप; जल और पृथिवी में भी है। जल का गुण रस; पृथिवी में भी है॥

सम्पूर्ण धर्म (गन्ध आदि) अपने २ द्रव्य में ही व्यक्त होते हैं। अर्थात् यद्यपि दूसरे भूत में भी पूर्वभूत का गुण अनुप्रविष्ट होता है, परन्तु वहां अन्य गुणों के प्रबल होने के कारण स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। परन्तु अपने २ द्रव्य में अपना २ विशिष्ट गुण प्रकट होता ही है॥

अथवा द्वितीय मत के अनुसार सम्पूर्ण भूतों में सम्पूर्ण भूत रहा करते हैं। जैसे आकाश में; पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये चार भूत भी अणुमात्रा में रहते हैं, इत्यादि। इस प्रकार ये पांचों महाभूत एक दूसरे

में अनुप्रवेशकानुप्रवेश्य-भाव से रहा करते हैं । तथा च जो अनुप्रविष्ट होते हैं; उनके लक्षण, निर्बल होने के कारण, व्यक्त नहीं होते ॥२४॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु ।
क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः[1] ॥ २५ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

इस अध्याय में आठ प्रकृति, सोलह विकार तथा आयुर्वेदसम्मत एवं अन्य सांख्य आदि शास्त्र द्वारा सम्मत आत्मा का संक्षेप से वर्णन किया गया है ॥२५॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः शुक्र[2]शोणितशुद्धिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

इन के अनन्तर शुक्र (वीर्य) तथा शोणित (आर्तव) शुद्धि नामक शारीर की व्याख्या करते हैं ॥१॥

वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणप[3]ग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥२॥

वे पुरुष जिनका वीर्य वात, पित्त अथवा कफ से दुष्ट हो, जिनके वीर्य से मुर्दे की सी गन्ध आती हो अथवा जिनके शुक्र में शुक्रकीट (Spermatozoa)मर गये हों, जिनका वीर्य ग्रन्थि-सदृश हो, दुर्गन्धित पूय के सदृश हो (अथवा जिनके वीर्य के साथ पूय आती हो, या जिनके वीर्य ने पूय Pus का रूप ही धारण कर लिया हो), जिनका वीर्य क्षीण होगया हो, तथा जिन के वीर्य के साथ मूत्र अथवा पुरीष मिश्रित होकर आता हो; सन्तानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होते ॥

---

१ स्वतन्त्रपरतन्त्रतः इति पा० ।
२ 'शुक्रशोणितशुद्धिं नाम' इति पा० ।
३ 'कुणपगन्धि इति पा० ।

अर्थात् पुरुष में वन्ध्यत्व दोष या तो वीर्य में किसी प्रकार की अन्तः विकृति से हो सकता है; अथवा उस अवस्था से हो सकता है, जिससे कि वीर्य का क्षरण यथावत् न हो सके। जैसे कि १-वीर्य का क्षरण तो यथावत् होता हो, परन्तु उसमें शुक्रकीट ही विद्यामान् न हों, अथवा हों तो मृत हों, यह है वीर्य की अन्तःविकृति। २-वीर्य में शुक्र कीट तो जीवित हों, परन्तु ग्रन्थि सदृश हो, जिससे वीर्य-क्षरण (Discharge) यथावत् न होता हो और यथावत् न होने से रज-डिम्ब के साथ न मिले; तो भी सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती। आयुर्वेद के अनुसार इन दोनों को ही वन्ध्य (Sterile) कहा जायगा ॥२॥

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, शोणितवर्णवेदनं कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पित्त-मारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीण-रेतसः कृच्छ्रसाध्याः। मूत्रपुरीषरेतसस्त्वसाध्याः (साध्यमन्यच्च) इति ३

इन दोषों में से यदि वीर्य वात के वर्ण (अरुण) का हो और यदि उत्पादक संस्थान के किसी अवयव में वातिक वेदना होती हो, तो वीर्य को वातदुष्ट जानना चाहिये।

अल्टूज़ामैन ने जो कि इस विषय का बड़ा विद्वान् हुआ है, अपनी पुस्तक में एक जगह ऐसे वीर्य के नमूने का-जो कि उसके पास परीक्षार्थ आया था-वर्णन किया है, जिसका रंग रक्तिमायुक्त (Reddish) था। जिसमें विना अणु-वीक्षण-यन्त्र Microscope की सहायता के रुधिर के होने का सन्देह होता था। परन्तु परीक्षा करने पर उसमें रुधिर का लेश भी न था।

इसी प्रकार यदि वीर्य पित्त के वर्ण (पीत, हरित आदि) से युक्त हो और उत्पादक संस्थान में पैत्तिक वेदना होती हो (जिससे मार्ग में वीर्य पित्त दूषित हो सकता हो) तो वीर्य को पित्त दुष्ट समझना चाहिये।

Arthur cooper आर्थर कूपर अपनी The Sexual Disabilities of Man नामक पुस्तक में लिखता है—

१ अयं पाठो हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते।

A brownish yellow colour of the semen may be due to pus and blood in varying proportion, or in patients with jaundice it may be due to bile.

अर्थात् कभी २ कामला के रोगियों में पित्त के कारण वीर्य का रंग भूरा-पीला सा होजाता है।

यदि वीर्य में श्लेष्मा का वर्ण तथा उत्पादक संस्थान में कफज वेदना हो, तो कफ-दुष्ट जानना चाहिये।

जो वीर्य शोणित (रक्त) के रंग का हो और उत्पादक संस्थान में रक्तज वेदना हो, जिसमें से मुर्दे की सी गन्ध आये और परिमाण में अधिक हो तो जानना चाहिये कि यह वीर्यगत विकार रक्त-दुष्टि से हुआ है।

जब वीर्य रुधिर-मिश्रित होता है, उसे आजकल Hoemospermia (हीमोस्पर्मीया) कहते हैं। इस में इसका रंग लाल या भूरा-लाल या भूरा होता है। यह भिन्नता रक्त—राशि तथा रक्त के उद्गमस्थान पर अवलम्बित होती है।

श्लेष्मा (कफ) और वात से वीर्य ग्रन्थिभूत-गांठदार होजाता है, अर्थात् वह असाधारण गाढ़ा (Abnormally thick.) होकर गांठ २ की तरह हो जाता है। यह द्वन्द्वज है।

आजकल इसका कारण साधारण तौर पर यह बताया जाता है, कि या तो इस अवस्था में गाढ़रस की उत्पत्ति अधिक मात्रा में होती है अथवा पौरुष ग्रन्थि (Prostate gland) आदि जो पतला रस-स्राव निकालती हैं, या तो वह रस को निकालतीं ही नहीं, या निकालती हैं तो अल्प परिमाण में। कई स्वस्थ पुरुष ग्रन्थिरेता होते हैं, जिन्हें वेग उपस्थित होने पर भी वीर्य के असाधारणतया गाढ़ा होने के कारण कुछ देर तक क्षरण नहीं होता और जब होता है, तो वे बेआरामी और वेदना का अनुभव करते हैं।

पित्त और श्लेष्मा (द्वन्द्व) से वीर्य पूय के सदृश अथवा पूय-मिश्रित होता है।

इसमें वीर्य का रंग कुछ न कुछ पीला होता है। इसे आजकल Pyospermia (पायोस्पर्मिया) कहते हैं।

क्षीणवीर्य के लक्षण पहिले कहे जाचुके हैं। यह पित्त और वात (द्वन्द्व) के प्रकोप से होता है।

शुक्रक्षय के अन्दर Aspermia (शुक्राभाव) Oligospermia, (शुक्र का कम राशि में होना) Hydrospermia (शुक्र का पतला होना) Hoemospermia (रक्तमिश्रित शुक्र), Necrozoospermia (शुक्रकीट का निश्चेष्ट या निर्जीव होना), Oligozoospermia (शुक्रकीटों का न्यून संख्या में होना). Azoospermia (शुक्रकीटों का न होना); इन सबका समावेश होजाता है।

मूत्र और पुरीष की गन्ध वाला सन्निपात (त्रिदोष) से होता है।

यह भगन्दर या नाड़ी व्रण द्वारा हो सकता है। अर्थात् यदि कोई नाड़ीव्रण, गुदा अथवा मूत्राशय से प्रारम्भ होकर उत्पादक संस्थान के किसी अवयव (शुक्राशय, पौरुष ग्रन्थि) आदि से सम्बद्ध होजाय तो पुरिष और मूत्र के संसर्ग से उसी गन्ध वाला होजाता है। और इन के संसर्ग से शुक्रस्थित शुक्रकीटों की मृत्यु होजाती है। क्योंकि ये दोनों विष-प्रभाव वाले हैं। भगन्दर रोग में ऐसे नाड़ीव्रण का होना असम्भव नहीं। इस प्रकार के भगन्दर मनुष्य की मृत्यु का कारण बनते हैं। कहा भी है—

"वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च।
भगन्दराः स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम्॥"

इन आठ प्रकार की शुक्रदुष्टियों में कुणप, ग्रन्थि, पूतिपूय, क्षीण-शुक्र कष्टसाध्य हैं। मूत्रपुरीष–रेता असाध्य है। शेष साध्य हैं॥३॥

आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोप-

---

१-सूत्रस्थान अध्याय १५ में क्षीणवीर्य के लक्षण बताये गये हैं-'शुक्रक्षये मेढ्र-वृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनञ्च।' अर्थात् वीर्य के क्षीण होने पर मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) और वृषण (फोतों) में वेदना, मैथुन में अशक्ति (Impotency), देर से क्षरण होना और क्षरण हुए २ द्रव में किंचित् रुधिर अथवा किंचित् शुक्र का दिखाई देना, प्रभृति लक्षण विद्यमान् रहते हैं। 'चिराद्वा प्रसेकः' यहां पर वा शब्द के पढ़ने से यह भी बताया गया है, कि कई रोगियों में शुक्रच्युति (प्रसेक-क्षरण) भी नहीं होती।

सृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्णवेदनादिभिर्विज्ञेयम् । तेषु कुणपग्रन्थि-पूतिपूयक्षीण[1]मूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं साध्यमन्यच्चेति ॥४॥

आर्त्तव भी वात, पित्त, कफ; इन तीनों दोषों से, चौथा रक्त से, पृथक् द्वन्द्वों से अर्थात् वात कफ, पित्त कफ तथा पित्त वात से और त्रिदोष से युक्त होता हुआ अबीज अर्थात् प्रजोत्पादन में अयोग्य होता है। उन्हें दोषों के अनुसार वर्ण और वेदना आदि द्वारा जानना चाहिये । इन में से भी कुणप, ग्रन्थि, पूतिपूय, क्षीण तथा मूत्र पुरीष सदृश आर्त्तव असाध्य है । शेष साध्य हैं ॥ ४ ॥

भवन्ति चात्र–

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत् ।
क्रिया[2]विशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः ॥५॥

इन में से आदि के तीन शुक्र दोषों को, दोषों के अनुसार स्नेह स्वेद आदि पञ्चकर्म द्वारा, अन्यत्र निर्दिष्ट (चरक आदि में कही गई) विशेष क्रियाओं द्वारा तथा उत्तरबस्ति द्वारा जीते ॥ ५ ॥

पाययेत नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि ।
धातकी[3]पुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ।
पाययेदथवा सर्पिः शाल[4]सारादिसाधितम् ॥६॥

---

१ आर्त्तवक्षये- यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च । सु० सू० अ० १५ ।

२ चरक में कहा है–वाजीकरणयोगोक्तैरुपयोगैः सुखैर्हितैः । रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनि-व्यापदिकैस्तथा ॥ दुष्टं यथा भवेद्रेतस्ततस्तत्समुपाचरेत् ॥
घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च । गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति ॥
वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः । अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम् ॥
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद्भल्लातकस्य च ॥
इत्यादि ।

३ डल्हणस्तु धातकीपुष्पादिघृतस्यापि कल्ककषायाभ्यामेव साधनमित्याह । एवं हाराणचन्द्रोऽपि । यथा —"अत्र धातक्यादीनि त्रीण्यपि घृतानि क्वाथकल्काभ्यामेव साधयन्ति भिषजोऽनन्तरोक्तपालाशघृतसाहचर्यात्–आम्नायते हि–"यत्राधिकरणेनोक्ति....तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते ।" इति ।

४ शालसारअजकर्ण-खदिर-कदर-कालस्कन्ध-क्रमुक-भूर्ज मेषशृङ्गी-तिनिश-चन्दन-कुचन्दन शिंशपा-शिरिअषसन-धव-अर्जुन-ताल-शाक-नक्तमाल-पूतीक-अश्वकर्ण-अगुरूणि-कालीयकञ्चेति ।

कुणपशुक्र नामक रोग में वैद्य को चाहिये कि वह रोगी को धाय के फूल, खदिर (खैर की लकड़ी अथवा कत्था), अनार तथा अर्जुन की छाल; इन से साधित घृत का अथवा शालसारादि गण द्वारा साधित घृत का प्रयोग करावे ।

इन में से धातकीपुष्पादि घृत को केवल मात्र उन के कल्क से तथा शालसारादिघृत को कल्क और क्वाथ दोनों से सिद्ध करना चाहिये । क्योंकि—

यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेहसम्विधौ ।
तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिना ॥

अर्थात् जहां पर हमारे आचार्यों अथवा संग्रह-कर्त्ताओं ने किसी गण का निर्देश किया हो, वहां क्वाथ और कल्क के निर्देश न होने पर ही उसी गण की ओषधियों से स्नेह पाक करने के लिये क्वाथ और कल्क दोनों तय्यार करने चाहियें । परन्तु यदि ओषधियों का नाम पृथक् २ लिया हो और वे किसी एक ही गण की न हों, तो केवल कल्क द्वारा ही पाक करना उचित है ।

धातकीपुष्पादि घृत —के पाक के लिये घृत ४ सेर, जल १६ सेर तथा कल्क १ सेर लेना चाहिये । मात्रा- आधा तोला ।

शालसारादिघृत—के पाकार्थ घृत ४ सेर, शालसारादि गण की ओषधियों का क्वाथ १६ सेर (क्वाथार्थ क्वाथ्य ८ सेर, जल ६४ सेर, अवशिष्ट क्वाथ १६ सेर) लें । और यथाविधि क्वाथपाक करके गण की ओषधियों का कल्क १ सेर, जल १६ सेर डाल कर कल्कपाक करें ॥ मात्रा-आधा तोला ॥६॥

ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं[1] पालाशे वापि भस्मनि[2] ॥७॥

ग्रन्थिभूत वीर्य दोष की निवृत्ति के लिये शटी (कचूर) द्वारा अथवा पलाश भस्म द्वारा साधित घृत का प्रयोग करना चाहिये । प्रथम घृत को क्वाथ और कल्क दोनों से सिद्ध करना चाहिये । द्वितीय घृत को केवल भस्मोदक से । क्योंकि तन्त्रान्तर में रक्तगुल्म के भेदन के

१ ऽश्मभित्सिद्धं इति पाठान्तरम् । अश्मभित् पाषाणभेदः ।

२ पलाशभस्माढकं षड्भिः सलिलाढकैः सप्तकृत्वः परिस्रुतमाढकशेषं प्रस्थघृतपाकाय प्रयोज्यम् ॥

लिये पलाशक्षार घृत की विधि बताते हुए—'पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा।' ऐसा पाठ है ॥ ७ ॥

परूषकंवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम् ॥८॥[1]

पूयशुक्र नामक रोग में परूषकादि[2] गण तथा वटादिगण[3] की ओषधियों द्वारा साधित घृत का प्रयोग अत्यन्त हितकारी है ॥८॥

प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि ॥९॥

क्षीणशुक्र में, जो चिकित्सा, हम सूत्रस्थान के दोषादि—विज्ञानीय नामक अध्याय में कह आये हैं और जो हम क्षीणबलीय नामक अध्याय में कहेंगे, करनी चाहिये ॥९॥

विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः ॥१०॥

पुरीषगन्धि शुक्र में चित्रक, खस तथा हींग से साधित घी का प्रयोग कराना चाहिये ॥१०॥

स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम् ।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना ॥११॥[4]

स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूह (आस्थापन) वस्ति, अनुवासन आदि कर्म के पश्चात् शुक्र-दोष से पीडित रोगी को यथाविधि उत्तरवस्ति करानी चाहिये ॥११॥

विधिमुत्तरबस्त्यन्तं कुर्यादार्त्तवशुद्धये ॥१२॥[5]

---

१ परूषकादिघृतन्तु कल्कमात्रसाध्यमित्याहुः करणनिर्देशादिति हाराणः ।

२—परूषकादिगण— परूषक (फालसा), द्राक्षा (मुनका, किशमिश), कट् फल, दाडिम (अनार), राजादन (खिरनी), कतकफल (निर्मली) शाकफल (सागवान का फल)।

३—वटादिगण-वट, गूलर, पीपल, प्लक्ष (पिलखन), मुलहठी, कपीतन (अम्बाड़ा), अर्जुन, आम, कोशाम्र, चोरकपत्र, दोनों जामुन (जम्बू, राजजम्बू), पियाल, मधूक (महुआ), रोहिणी, वञ्जुल (अशोक), कदम्ब (कदम), बदरी (बेरी), तिन्दुकी (तेंदू), शल्लकी (सर्जभेद), लोध, शावरलोध, भिलावा, पलाश (ढाक), नन्दीवृक्ष ।

४ अस्याग्रे स्नेहादिश्च क्रमः कार्यः षट्स्वेतासु विजानता इत्याधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते ।

५—इसका विस्तृत वर्णन अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान, प्रथम अध्याय में देखिये ।

आर्त्तव की शुद्धि के लिये भी यही उपर्युक्त उत्तरबस्ति पर्यन्त क्रिया उपयुक्त है ॥१२॥

स्त्रीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्त्तिषु ॥
कुर्यात्कल्कान् पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च ॥१३॥

वात, पित्त, कफ तथा रक्त से उत्पन्न होने वाले आर्त्तव दोषों में स्त्रियों का यथाविधि स्नेहन आदि कर्म के साथ २ कल्क–धारण, पिचु-धारण, पथ्य तथा आचमन (प्रक्षालन Lotions) का प्रयोग कराना चाहिये ॥ १३ ॥

ग्रन्थिभूते पिबेत् पाठां त्र्यूषणं वृक्षकाणि च ॥१४॥

यदि आर्त्तव ग्रन्थिभूत (गांठ २) हो, तो, पाठा (पाढ़), त्रिकटु, वृक्षक (इन्द्रजौ); इनका क्वाथ पीना चाहिये। क्वाथार्थ मिलित औषध २ तोला, जल ३२ तोला, अवशिष्ट क्वाथ ८ तोला ॥१४॥

दुर्गन्धिपूयसङ्काशे[1] मज्जतुल्ये तथाऽर्तवे।
पिबेद्भद्रश्रियः[2] क्वाथं चन्दनक्वाथमेव च ॥१५॥

यदि आर्त्तव दुर्गन्धित, पूयसदृश तथा मज्जा के समान हो, तो, श्वेत चन्दन या लाल चन्दन का क्वाथ पिलाना चाहिये ॥१५॥

शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम्।
दोषाणां[3] शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्तवार्तिषु ॥
अन्नं शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम् ॥१६॥

शुक्रदोष को हरने वाले योगों को आर्त्तव सम्बन्धी उन २ रोगों में भी प्रयोग करावे। अर्थात् ग्रन्थिशुक्र आदि में जिन २ योगों का वर्णन किया है, उन २ योगों को ग्रन्थिभूत आर्त्तव आदि में भी प्रयुक्त करावे।

इन उपर्युक्त आर्त्तव दोषों के अतिरिक्त शेष आर्त्तव सम्बन्धी रोगों में भी दोषों का संशोधन आवश्यक है।

आर्त्तव रोगों में पथ्य—अन्न, शालि, जौ, मद्य तथा पित्तवर्धक

---

१ 'दुर्गन्धे पूयसङ्काशे' इति पा०।

२—भद्राश्रियं श्वेतचन्दनम्। चन्दनं गोशीर्षाख्यं चन्दनं, नतु रक्तचन्दनम्, तस्य हि गन्धापहरणशक्तेरभावात्। इति गयदासः।

३ 'योगानां' इति पा०।

मांस हितकर है ॥१६॥

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा ॥१७॥

विशुद्ध शुक्र के लक्षण—स्फटिकमणि के समान श्वेत, द्रव (Liquid) स्निग्ध, मधुर (Neutral in reaction), मधु के समान गन्ध वाला वीर्य उत्तम अर्थात् प्रजोत्पत्ति में समर्थ होता है। कई आचार्यों का मत है, कि विशुद्ध वीर्य तिलतैल तथा मधु के वर्ण का होता है।

इन दोनों मतों का समन्वय करते हुए अष्टाङ्गसंग्रहकार ने दर्शाया है, कि दोनों ही शुक्र गर्भाधान के योग्य होते हैं, परन्तु स्फटिक अथवा घृत सदृश वीर्यवालों की सन्तान गौर वर्ण की, तैल क्षौद्र के समान वीर्यवालों की सन्तान श्याम अथवा कृष्ण वर्ण की हुआ करती है।

जैसे-"तत् सौम्यं, स्निग्धं, गुरु, शुक्लं, मधुगन्धि, मधुरं, पिच्छिलं, वहु, बहलं, घृततैलक्षौद्रान्यतमवर्णं च शुक्रं गर्भाधानयोग्यं भवति"।

"**तथा**-तत्र शुक्रे शुक्ले घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम्'

मधुर शब्द का अर्थ हमने 'Neutral in Reaction' अर्थात् "जिसकी प्रति क्रिया अम्ल और क्षारीय न हो" ऐसा किया है। यह कोई नया अर्थ नहीं है, सुश्रुत सूत्रस्थान में क्षारदग्ध की अम्लप्रयोग से चिकित्सा लिखते हुए

'रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्येणोष्णेन च योजितः।
आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति' ॥

इस प्रश्न के उत्तर में—

'अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसः।
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ॥
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः ॥

"माधुर्यं भजते' का प्रयोग किया है। जिससे हमारे अर्थ की पुष्टि होती है।

चरक में भी विशुद्ध शुक्र का लक्षण इस प्रकार है-

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥

पिच्छिल शब्द का अर्थ चिपचिपा है । इसमें अविदाहि शब्द यह भी बताता है, कि कहीं २ क्षारीय प्रतिक्रिया वाला भी वीर्य देखा जाता है, पर वह अत्यन्त क्षारीय प्रतिक्रिया वाला नहीं होता । उसमें नाम मात्र की ही क्षारीय प्रतिक्रिया होती है और अत एव अविदाहि-दाह को न उत्पन्न करने वाला-होता है। घन से अभिप्राय, गाढे से है ॥

The seminal fluid is viscid, neutral or alkaline in reaction, and in appearance and consistency resembles a decoction of starch. It has an odour which has been compared with various other odours, but which is really peculiar to itself and needs no description. (Arthur cooper)

अर्थात् वीर्य पिच्छिल, उदासीन या क्षारीय प्रतिक्रिया वाला होता है। यह आकृति और घनता में निशास्ते के क्वाथ से मिलता जुलता है । इसका अपना एक प्रकार का विशेष गन्ध होता है, इस गन्ध की तुलना कई ग्रन्थकारों ने दूसरी २ गन्धों से की है । परन्तु वास्तव में इसकी अपनी ही विशेष गन्ध होती है ॥ १७ ॥

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥१८॥

विशुद्ध आर्त्तव के लक्षण–जो आर्त्तव वर्ण तथा घनता (Consistency) आदि में शशक के रुधिर के समान हो, अथवा लाक्षारस के तुल्य हो और जो कपड़े को न रंगे (अर्थात् धोने पर उतर जाय और किसी प्रकार का रुधिर का धब्बा न बचे) वह गर्भाधान के

---

1 **डाक्टर क्रौस्सन** (Crossen) **अपनी** "diseases of women" **नामक पुस्तक में लिखता है** --"Menstruation is the regular periodic discharge of blood from the uterus, recurring about every four weeks from puberty to the menopause, except during pregnancy and lactation.

अर्थात् रजःस्राव; गर्भाशय से होने वाला वह रक्त स्राव है, जो कि सगर्भावस्था और स्तन्यस्रावावस्था को छोड़ कर रजःस्वला होने के काल (लगभग १२ वर्ष की आयु) से रजोनिवृत्ति काल (प्रायः ५० वर्ष की आयु) तक प्रत्येक चौथे सप्ताह के बाद नियमपूर्वक होता रहता है।

योग्य है, वही विशुद्ध है।

वृद्धवाग्भट ने कहा भी है–"आर्त्तवं पुनः शशरुधिरलाक्षारसोपमं धौतं च विरज्यमानं शुद्धमाहुः"।

चरक में–"गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम्।
इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमेव तत्॥
मासान्निष्पिच्छदाहार्ति[1] पञ्चरात्रानुबन्धि[2] च।

---

१ शुद्ध आर्तव कितने २ दिन बाद प्रवृत्त होता है–

The periodicity of the flow is more uniform, the flow recurring about every 28 days. However, many healthy women menstruate at periods somewhat longer or shorter than this. In one series the duration from beginning to beginning was 28 days in 70 % of the cases, 30 days in 13.7 % 27 days in 1.4 % and 21 days in 1.6 % (Krieger)

अर्थात् दो मासिकधर्म या रजःस्रावों का मध्य काल एक जैसा ही रहता है। यह रजःस्राव प्रायः २८ दिन के बाद हुआ करता है। यद्यपि कई स्वस्थ स्त्रियों को मासिक धर्म इस काल से कम अथवा अधिक काल के पश्चात् भी हुआ करता है। ७० प्रतिशत स्त्रियों में प्रथम रजःस्राव के पहिले दिन से द्वितीय रजःस्राव के पहिले दिन तक का अन्तर २८ दिन का था। १३.७ प्रतिशत स्त्रियों में यह अन्तर ३० दिन का, १.४ प्रतिशत स्त्रियों में २७ दिन का और १.६ प्रतिशत स्त्रियों में २१ दिन का था।

२ मासिक स्राव कितने दिन तक रहता है, इस विषय में लिखा है–

There is considerable variation in the duration of the menstrual flow, the average being three to four days. Some perfectly healthy women, however, menstruate only one or two days and others six to seven days. (Crossen)

२–अर्थात् रजःस्राव के काल में पर्याप्त भिन्नता देखी जाती है। इसका माध्यम तीन या चार दिन है। कई पूर्ण स्वस्थ स्त्रियों में यह काल एक या दो दिन का और कईयों में ६ या ७ दिन का पाया गया है।

Menstruation **की चार अवस्थायें बताते हुए दूसरी अवस्था के विषय में** Morris & Dickinson **की** Text book of Obstetrics **में लिखा है—**

The second or destructive stage is marked by the destructive processes which give rise to the usual phenomena of the menstrual period, including the discharge of mucus, blood, and disintegrated uterine mucous membrane.

नैवातिबहु[1]लात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्" ॥

अर्थात् जो आर्त्तव गुञ्जा (घुंघची, रत्ती) लाल कमल, लाक्षारस अथवा वीरबहूटी के समान वर्ण वाला हो, उसे शुद्ध ही जानना चाहिये। तथा जो यथानियम मास के (२८ या २९ दिन) बाद प्रवृत्त हो, निष्पिच्छ (Membrane आदि से रहित), किसी प्रकार के दाह और वेदना से रहित, अधिक से अधिक पांच दिन तक रहने वाला (तीन दिन से पांच दिन तक), तथा जो न बहुत अधिक परिमाण में और न अत्यन्त अल्प परिमाण में प्रवृत्त हो, उसे शुद्ध जानना चाहिये ॥१८॥

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि ।
असृग्दरं विजानीयादतो[2]ऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥१९॥

यही आर्त्तव यदि अत्यधिक मात्रा में प्रवृत्त हो, अथवा अधिक दिन तक प्रवृत्त रहे अथवा ऋतु से अतिरिक्त काल में भी प्रवृत्त होता हो तो इसे पूर्वोक्त विशुद्ध आर्तव के लक्षण होने के कारण परन्तु उससे भिन्न अर्थात् अप्रशस्त असृग्दर-रक्तप्रदर जानना चाहिये। अर्थात् आर्त्तवप्रवर्तक वायु के विकृत होजाने के कारण ऋतुकाल से भिन्नकाल में तथा अत्यधिक मात्रा में भी आर्तव की प्रवृत्ति होसकती है। परन्तु उस समय इस का नाम असृग्दर रोग होजाता है ।

Five days constitute the average duration of the menstrual flow, although its continuance may be extended or curtailed owing to individual peculiarities.

अर्थात् रजःस्राव के अवस्थान काल का माध्यम ५ दिन है। यह काल वैयक्तिक विशेषताओं के कारण घट या बढ़ भी सकता है ।

१ **आर्तव का परिमाण बताते हुए** Crossen **ने कहा है—**

The amount of blood lost at each menstruation varies greatly in different individuals, the usual amount being probably from five to ten ounces.

अर्थात् 'रजःस्राव में स्रुत रक्त की राशि भिन्न २ व्यक्तियों में अत्यन्त भिन्न होती है। सम्भवतः इस रक्त का साधारण परिमाण ५ से १० औंस तक होता है।

२ 'विजानीयादुक्तं लक्षणलक्षितम्' इति पा० ।

परन्तु इसे तभी रक्तप्रदर जानना चाहिये जब कि इसके लक्षण जीवरक्त के सदृश हों। अर्थात् यदि जीवरक्त के सदृश न हो, इसका दाग़ न जाता हो तो रक्तपित्त जानना चाहिये।

अथवा डल्हणाचार्य की व्याख्या के अनुसार श्लोक के चतुर्थ पाद की व्याख्या इस प्रकार होती है--

इस "शशासृक्" इत्यादि द्वारा पूर्व कहे गये आर्त्तव लक्षण से भिन्न अर्थात् शोणितवर्णनीय इत्यादि नामक अध्याय में कहे गये "फेनिलं शीघ्रमच्छं" इत्यादि लक्षणों से युक्त आर्तव को ही श्लोकों के प्रथम दो पादों में कहे हुए कारणों से असृग्दर कहा जाता है। अर्थात् असृग्दर रोग में आर्तव की अत्यधिक तथा ऋतुकाल से अतिरिक्त काल में भी प्रवृत्ति होती है, परन्तु उस स्राव में विशुद्ध आर्तव के लक्षण न होकर वातादि-दुष्ट रक्त के लक्षण होते हैं॥ १९॥

असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥२०॥

सम्पूर्ण असृग्दर रोग में, अङ्गमर्द-ऊरू-कमर आदि अङ्गों में थकावट तथा वेदना अनुभव होती है। यदि यह अति मात्रा में प्रवृत्त हो तो साथ ही साथ दुर्बलता, भ्रम (Giddiness, सिरमें चक्कर आना), मूर्च्छा, तम (आंखों के सामने अंधेरा आजाना), तृषा (प्यास), दाह (आंख तथा

जीवरक्त तथा रक्तपित्त की परीक्षा—

१ तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा।
भुंक्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेत्॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा।
प्रक्षालितं विवर्णं चेत् पित्तं, शुद्धं तु शोणितम्॥ चरक।

अर्थात् परीक्ष्य रक्त से मिश्रित भोज्य पदार्थ यदि कौए अथवा कुत्ते को दें, और वह खाजाय तो जीवरक्त जानना चाहिये, न खाये तो पित्त समझें।

एक निर्मल वस्त्रखण्ड को रक्त में भिगोकर धूप में सुखा दें। सूख जाने पर उसे कोसे पानी से धोयें। यदि वस्त्र का रंग खराब रहे तो पित्त, यदि पूर्ववत् स्वच्छ होजाय तो शुद्ध जानना चाहिये॥

हाथ पैर आदि की तलियों में दाह), प्रलाप, पाण्डुता (Bloodlessness, Anaemia), तन्द्रा तथा अन्य वातज रोग उत्पन्न होजाते हैं ॥२०॥

तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक् ।
रक्तपित्तविधानेन यथावत समुपाचरेत ॥२१॥

हितकर आहार विहार का सेवन करने वाली तरुणी स्त्री को यदि असृग्दर होगया हो, जिसमें उपद्रव (Complications) थोड़े उत्पन्न हुए हों, तो रक्तपित्त की विधि से चिकित्सा करे। अर्थात् यदि उपद्रव अधिक हों, तो उसे असाध्य जानना चाहिये ॥ २१ ॥

दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः ।
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः ॥
पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने ॥२२॥

यदि स्त्रियों की आर्तववाहिनी शिरायें वात पित्त कफ आदि दोषों द्वारा आवृत मार्ग (अर्थात् उनके मार्ग में यदि रुकावट होजाय) होजांय तो आर्त्तव की प्रवृत्ति नहीं भी होती। इस रोग को नष्टार्तव Amenorrhaea कहते हैं। इस रोग में मत्स्य (मछली), कुलथी, अम्ल (खट्टे) पदार्थ, तिल, माष (उड़द), सुरा, गोमूत्र, उदश्वित् (छाछ—जिसमें आधा पानी हो) दही तथा शुक्त (सिरका) का भोजन एवं पान आदि द्वारा प्रयोग हितकर है ॥ २२ ॥

क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ।
तथा[1]ऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत् ॥२३॥

क्षीणार्तव के लक्षण तथा चिकित्सा पहिले (सूत्रस्थान के दोषादिविज्ञानीय अध्याय) में कह दी गई है, तो भी उसके साथ ही साथ नष्टार्त्तवोक्त मत्स्य आदि का विधान भी हितकर है।

दोषादिविज्ञानीय नामक अध्याय में कहा है—

'आर्तवक्षये यथेचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च। तत्र संशोधनमाग्नेयानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः ॥'

अर्थात् क्षीणार्त्तव में यथोचित (२८ या २९ दिनके पश्चात्) कालमें आर्त्तव का न आना अथवा अल्प परिमाण में आना और इनके

---

१ 'अथाप्यत्र' इति पा०।

साथ २ ही योनि अथवा गर्भाशय में वेदना होना—ये लक्षण रहते हैं; इसकी चिकित्सा के लिए संशोधन तथा आग्नेय द्रव्यों (सुरा, हींग, टङ्कण, मुसव्वर, चित्रक, गोमूत्र, सिरका,) का विधि पूर्वक उपयोग हितकर है ॥ २३ ॥

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च ॥२४॥

इस प्रकार दोष रहित वीर्यवान् पुरुष और शुद्ध आर्तव वाली स्त्री ही उत्तम सन्तान को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥ २४ ॥

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपात-स्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेख--नानिलायासान् परिहरेत्। किं कारणं ? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्य-ङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात कुनखी. प्रधावनाच्चश्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्धधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् ॥२५॥

ब्रह्मचारिणी स्त्री को चाहिए कि वह ऋतुकाल* में प्रथम दिन से ही अर्थात् रजोदर्शन के समय से ही दिन में सोना, अञ्जन, रोना, स्नान, चन्दन आदि का शरीर पर अनुलेपन, तैल का अभ्यङ्ग, नखों का कटवाना, दौड़ना, अधिक हंसना, बहुत बोलना, बहुत ऊंचे शब्द का सुनना, अवलेखन (सिर में खुजलाना), वायु सेवन (अर्थात् जहां सीधी हवा आती हो, वहां बैठना), तथा आयास-परिश्रम थकावट-छोड़ दे । क्योंकि दिन में

---

* गर्भधारण-योग्य काल को ही ऋतु कहते हैं। इस काल का ज्ञान हमें आर्त्तव की प्रवृत्ति से होता है। पर हम कई वार देखते हैं कि इसकी प्रवृत्ति के विना भी गर्भ होजाया करता है। अतः ऋतु कितने दिन होती है; इस विषय में मत भेद है, जो कि वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार दिखाया है—"ऋतुस्तु दृष्टार्त्तवो द्वादशरात्रं भवति, षोडशरात्रमित्यन्ये । शुद्धयोनिगर्भाशयार्त्तवायाः मासमपि केचित्। तद्वददृष्टार्त्तवोऽप्यस्तीत्यपरे।" आर्त्तव के बाद १२ दिन ऋतु है। कई १६ दिन मानते हैं, कई कहते हैं कि योनि, गर्भाशय और आर्त्तव शुद्ध हो तो एक महीने तक भी हो सकती है। कुछ कहते हैं कि इनके अतिरिक्त आर्त्तव प्रवृत्ति न भी हो, तब भी कई अवस्थाओं में ऋतु देखी गई है।

सोने से गर्भस्थित शिशु निद्रालु होजाता है। अञ्जन से अन्धा, रोने से विकृति दृष्टि वाला, स्नान तथा अनुलेपन से दुःख शील, तैल मर्दन से कुष्ठी (त्वग्रोग वाला अथवा कोढी), नख कटवाने से कुनख (बुरे नख वाला), दौड़ने से चंचल, हंसने से श्याम वर्ण के दांत, ओष्ठ, तालु तथा जिह्वा वाला, अत्यन्त बोलने से प्रलापी (बहुत बोलने वाला), ऊंचे शब्दों को सुनने से बहिरा, अवलेखन से गञ्जा तथा वायु और परिश्रम के सेवन से गर्भ स्थित शिशु के उन्मादयुक्त होने का डर रहता है। अतः इन सब का त्याग करना चाहिए ॥ २५ ॥

दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं, त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासां समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत् ॥२६॥

कुशा अथवा दर्भ को बिछाकर उस पर सोने वाली तथा हथेली, मृत्पात्र अथवा पत्तल पर हविष्य-अन्न का भोजन करने वाली पत्नी को तीन दिन तक भर्त्ता-पति से पृथक् रहना चाहिये। तत्पश्चात् चौथे दिन आर्त्तव के बाद स्नान आदि द्वारा शुद्ध हुई २ स्वच्छ तथा उत्तम वस्त्र तथा अलङ्कार-भूषण आदि द्वारा अलङ्कृत पत्नी को मङ्गलपाठ तथा स्वस्तिवाचन के पश्चात् पति के दर्शन करावें ॥२६॥

तत् कस्य हेतोः ?

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना ।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥२७॥

क्योंकि ऋतुस्नाता स्त्री जैसे पुरुष को सबसे पूर्व देखती है, वैसे ही पुत्र को पैदा करती है, अत एव सबसे प्रथम भर्त्ता-पति के दर्शन कराने चाहियें। जिस से पुत्र पति के सदृश ही श्रेष्ठ आचार वाला पैदा हो ॥२७॥

ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत् ॥

---

१ अहतवाससमलङ्कृतां इति पा०।

२ अथवा—"नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णशोणिते।
नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा ॥"

कर्मान्ते च क्रमं ह्येनमारभेत विचक्षणः ॥२८॥

पति-दर्शन के पश्चात् उपाध्याय (वैदिक कर्म को जानने वाला) को चाहिये कि पुत्रीय-विधान (अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के निमित्त मङ्गल-कामना आदि कर्त्तव्य यज्ञ कर्म) कराये । इस के पश्चात् बुद्धिमान् पति को चाहिये कि वह निम्नलिखित क्रम को प्रारम्भ करे ॥२८॥

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य[1]; विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्या-मष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः ॥२९॥

जो पुरुष एक मास तक ब्रह्मचारी रहा हो, वह घृत द्वारा स्निग्ध हुआ २ पुत्रीय विधान के पश्चात् सायंकाल घी और दूध से शालि चावलों को खाकर, एक मास से ब्रह्मचारिणी तथा तैलस्निग्ध स्त्री से, जिसने कि तैल और माष (उड़द) प्रधान अन्न खाया हो, साम आदि द्वारा आश्वासन देकर रात्रि में सहवास करे । इस प्रकार यदि पुत्र की कामना हो तो चौथी, छठी, आठवीं, दशवीं या बारहवीं रात सहवास करना चाहिये ॥२९॥

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च ।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥३०॥

इन में भी यथोत्तर रात्रियों में आयु, आरोग्य, प्रजा, सौभाग्य, ऐश्वर्य और बल की वृद्धि होती है, अर्थात् चतुर्थी से छठी, छठी से आठवीं रात्रि इत्यादि । इस प्रकार बारहवीं रात्रि सबसे श्रेष्ठ है । इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर दिनों में किये गये सहवास से उत्पन्न गर्भ पुष्ट होता है ॥३०॥

अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः, त्रयो-दशीप्रभृतयो निन्द्याः ॥३१॥

यदि पुत्री की इच्छा हो तो पञ्चमी, सातवीं, नौवीं तथा ग्यारहवीं रात्रि सहवास के लिये उत्तम हैं । इनमें भी उत्तरोत्तर उत्तमता जाननी चाहिये । तेरहवीं रात्रि से लेकर शेष सब निन्दित कही गई हैं ॥३१॥

---

१ 'आश्वास्य' इति पा० ।

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते; द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा; तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति; चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति । न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लावि द्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेव द्रष्टव्यम् तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत् । अतः परं मासादुपेयात् ॥३१॥

ऋतुमती[3] स्त्री के साथ प्रथम दिवस सहवास करने से पुरुषों की आयु क्षीण होती है। और जो गर्भाधान होता है, वह भी उत्पन्न होते २ ही मर जाता है। द्वितीय दिवस के सहवास से भी यही फल होता है अथवा सूतिका गृह में (दस दिन के अन्दर २) ही मर जाता है। तृतीय दिवस के सहवास से भी यही फल होता है अथवा असम्पूर्ण अंगोंवाला या अल्पायु होता है। चतुर्थ दिवस के मैथुन से सम्पूर्ण अंगोंवाली तथा दीर्घायु सन्तान होती है। रक्त के प्रवृत्त होते समय बीज का आधान गुणकारी नहीं हो सकता, जैसे बहती हुई नदी में उसके बहाव के विरुद्ध फैंकी हुई तैरने वाली लकड़ी आदि पदार्थ वापिस आजाता है, ऊपर नहीं जाता, वैसे ही यहां समझना चाहिये। अतएव जिन तीन दिनों में आर्त्तव की प्रवृत्ति हो, उन दिनों में नियमवती स्त्री से पृथक् रहे। इन दिनों के पश्चात् मैथुन कर सकता है। इसके पश्चात् महीने २ बाद सहवास करे।

अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के लिये पुरुष को ऋतुगामी होना चाहिये। और ऋतु में भी प्रथम तीन दिन तथा तेरहवें दिन से लेकर पीछे के दिन त्याज्य हैं। ऋतु में एक वार ही संयोग होना चाहिये। यदि गर्भस्थिति न हुई हो, तो पुनः द्वितीय मास में सहवास होना चाहिये। गर्भस्थिति होने पर सर्वथा पृथक् रहना चाहिये।

स्त्री में गर्भ के धारण एवं पोषण की शक्ति चौथे दिन से क्रमशः

---

१ 'विमुच्यते प्राणैः' इति पा० ।

२ 'तद्वदेतत्' इति पा० ।

३ चरके-गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे ।

वढ़नी शुरू होती है और बारहवें दिन तक पूर्णावस्था को प्राप्त होती है और पश्चात् एक दम कम होना प्रारम्भ होजाती है ॥३२॥

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गासहदेवाविश्वदेवाना-मन्यतमं क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठीवेत् ॥३३॥

वैद्य को चाहिये कि गर्भस्थिति होने के पश्चात् इन्हीं दिनों

---

१ अस्याग्रे 'वामे दुहितृकामायै' इत्यधिकं पठ्यते क्वचित्पुस्तके।

२—गर्भ के अङ्कुरित (fertilized,) होने के पश्चात् ही, जबतक कोई भेद प्रकट नहीं होता, तब तक पुंसवन औषधियों के प्रयोग का समय है। यह समय लगभग महीना डेढ़ महीना होता है। तत्पश्चात् गर्भ व्यक्त होना प्रारम्भ होजाता है। आज कल के पाश्चात्य चिकित्सकों ने भी यही परिणाम निकाला है; जैसे—

R. Scott Stenenson M. B. **लिखता है** 'It should be understood that the developments of the reproductive organs is practically the same in the two sexes up to the 5th or 6th week of intra-uterine life, and only then does the differentiation of the sexes begin to become evident.'

अर्थात् गार्भिक जीवन के पहिले पांच या छः सप्ताहों तक लड़का और लड़की के उत्पादक अंगों का विकास एक ही समान होता है और उनमें कोई भेद नहीं दीखता। हां! इस काल के बाद भेद प्रकट होना प्रारम्भ होजाता है।

कई आचार्यों का मत है कि इन पुंसवन औषधियों का प्रयोग ऋतु के बारह दिनों में करना चाहिये। कई आचार्यों का मत है कि इन दिनों में भी पुत्रार्थिनी युग्मदिनों में इनका प्रयोग करे, दूसरे कहते हैं कि इनका उपयोग प्रतिदिन होना चाहिये॥

वृद्धवाग्भट में लिखा भी है—'लब्धगर्भां चैनां विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुञ्जीत। द्वादशरात्रमित्यन्ये। तत्रापि युग्मदिनेष्विति केचित्। प्रत्यहमित्यपरे।'

तथा चरक में—'तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। ...... तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावात् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्।'

इसमें चक्रपाणि "प्राग्व्यक्तीभावात्" इस पद की व्याख्या करते हैं—

प्राग्व्यक्तीभावादिति—यावन्न स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति तावदेव तद्वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति। व्यक्तिस्तु द्वितीयमासे भवति। यदुक्तम्-'द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते' इति। किंवा तृतीये मासे अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तीभावो ज्ञेयः। द्वितीये

में (अर्थात् जब तक गर्भ व्यक्त नहीं होता उससे पूर्व २) लक्ष्मणा, वटशुङ्ग (वट के नवीन पत्राङ्कुर), सहदेवा (पीत बला), विश्वदेवा (श्वेतबला), इन (पुंसवन ओषधियों) में से किसी एक को दूध के साथ कूट कर उसकी तीन या चार बूंदे पुत्र की कामना रखने वाली स्त्री के दाहिने नथने में नस्य देवे। वह उन्हें थूके नहीं ॥ ३३ ॥

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः ॥
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥
एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः ॥
भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणे (णो) हिताः ॥३४॥

जैसे ऋतु, क्षेत्र, जल तथा बीज के इकट्ठे होने से अङ्कुर पैदा होते हैं, वैसे ही ऋतु काल, गर्भाशय (क्षेत्र), आहार रस (अम्बु, जल) तथा शुक्र शोणित (बीज) अथवा इनसे उपलक्षित शुक्रकीट तथा डिम्ब; इनकी सन्निधि (इकट्ठे होने) से विधिपूर्वक गर्भ होता है। अर्थात् गर्भ प्रायः अवश्य होगा यदि ऋतुकाल में सहवास हो और गर्भाशय, आहाररस तथा शुक्र शोणित शुद्ध हों।

इस प्रकार उपर्युक्त विधिके अनुसार रूपवान्, महासत्त्व (महामना, बलशाली) तथा दीर्घायु युक्त श्रेष्ठ पुत्र पैदा होते हैं। ये पितृऋण के छुड़ाने वाले तथा माता पिताओं के लिये हितकारी होते हैं ॥३४॥

तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः, स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्। यादृग्वर्ण-

---

तु मासे ग्रन्थ्यादिरूपगर्भप्रत्यङ्गव्यक्तीभावो न वक्तव्यः। तेन वक्ष्यमाणं कर्म मासद्वयं यावत्कर्तव्यम्।

आचार्यों के दोनों मतों का समन्वय करते हुए डल्हण ने कहा है कि–"लब्धगर्भायाश्च लक्ष्मणादिनस्यदानं गर्भस्थापनार्थम्। मासत्रयाल्पान्तरे पुत्रापत्यजननार्थं नस्यदानमिति"। अर्थात् लब्ध–गर्भ होने पर जो लक्ष्मणा आदि का नस्य दिया जाता है–वह गर्भस्थापन के लिये होता है। दो या तीन मास तक जो नस्यदान होता है, वह पुत्रापत्य की उत्पत्ति के लिये होता है।

१ महासत्त्वा०' इति पा०।

माहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते ॥३५॥

पांच महाभूतों में से तेजोधातु सम्पूर्ण वर्णों की उत्पत्ति का कारण है। जब वह तेजोधातु गर्भोत्पत्ति के समय जलधातु--प्रधान होता है तब गर्भ गौर वर्ण का होता है। पृथिवीधातु–प्रधान तेजोधातु गर्भ को कृष्णवर्ण का कर देता है। पृथिवी आकाशधातु--प्रधान कृष्णश्याम और जल आकाश धातु--प्रधान गौरश्याम वर्ण के गर्भ का कारण होता है॥

कई आचार्यों का मत है कि गर्भिणी जिस वर्ण के आहार का अधिकतर उपयोग करती है, उसी वर्ण की सन्तान को उत्पन्न करती है ॥३५॥

तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेव रक्तानुगतं रक्ताचं, पित्तानुगतं पिङ्गाचं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाचं, वातानुगतं विकृताक्षमिति ॥३६॥

यदि तेजोधातु गर्भ के दृष्टिभाग में नहीं पहुंचता, तो उत्पन्न शिशु जन्मान्ध होता है। यदि तेजोधातु रक्तानुबन्धी हो तो लाल आंखों वाला, पित्तानुगत हो तो पीली आंखों वाला, यदि कफानुगत हो तो श्वेत आंखों वाला, यदि वातानुगत (वात युक्त हो) हो, तो विकृत आंखों वाला कर देता है ॥३६॥

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते ॥
विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥३७॥

जैसे अग्नि पर रखा हुआ घृतपिण्ड द्रवीभूत होजाता है; इसी प्रकार पुरुषों के समागम से स्त्रियों का आर्त्तव भी विसर्पण करता है। अर्थात् समागम के समय जब वीर्य योनि में च्युत होचुका होता है; उस समय जिस प्रकार शुक्राणु (Spermatozoa) डिम्ब के साथ मिलने में प्रीति रखता है, उसी प्रकार डिम्ब (Ovum) भी शुक्राणु से मिलने के लिये उत्सुक रहता है। अथवा डल्हणाचार्य की व्याख्या के अनुसार जब उपचित हुआ २ पुराना रक्त तीन दिन में निकल चुका होता है, तब नया परन्तु थोड़ा सा रक्त–जो कि गाढ़ा होने के कारण बाहिर निकलने में समर्थ नहीं होता–पुरुष समागम के समय संघर्षजन्य उष्णता के कारण पतला होजाता है; जिससे शुक्राणु तथा डिम्ब की गति

अप्रतिहत हो सकती है ॥३७॥

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ ॥
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥३८॥

शुक्र शोणित (शुक्र कीट + डिम्ब) रूपी बीज के वायु द्वारा दो भागों में विभक्त होजाने से और दो जीवों के गर्भाशय में प्रविष्ट होने पर जो जोड़ी पैदा होती है, उसे यम (जोड़ी) कहते हैं। ये पूर्वजन्म-कृत अधर्म के कारण ही होता है।

अथवा भिन्न २ बीज में (यदि दो शुक्राणु तथा दो डिम्ब गर्भाशय में पृथक् २ संयुक्त हो जांय) वायु द्वारा प्रेरित दो जीव प्रवेश कर जांय, तो युगल की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अन्वय इस प्रकार करना चाहिये भिन्ने बीजे अन्तर्वायुना (प्रेरिताविति शेषः, तृतीयेऽध्याये 'वायुनाभि-प्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठत इत्युक्तत्वात्') धर्मेतरपुरःसरौ द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ यमौ इत्यभिधीयेते ॥३८॥

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् ॥
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥३९॥

माता पिता के अत्यल्प बीज होने से आसेक्य नामक पुरुष पैदा होता है। यह आसेक्य पुरुष शुक्र के आस्वादन से ही ध्वजोच्छ्राय (Eraction) को पाता है। अर्थात् यदि माता पिता का बीज निर्बल हो तो पुरुष नपुंसक पैदा होता है। पर इस नपुंसक में शक्ति तभी आती है, जब कि वह अपने मुख में अन्य पुरुष से मैथुन करवा कर मुख में क्षरित हुए २ वीर्य का आस्वादन करता है, इसी का दूसरा नाम मुख-योनि है ॥ ३९ ॥

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः ॥
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥४०॥

जो पुरुष पूतियोनि (दुर्गन्धित योनि) में पैदा होता है, उसका नाम सौगन्धिक है—वह योनि और शेफ (मूत्रेन्द्रिय) की गन्ध को सूंघने पर बलशाली होता है। अन्यथा नहीं ॥४०॥

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते ॥

कुम्भीकः स च विज्ञेयः,

जो पुरुष अब्रह्मचर्य के कारण अपनी गुदा में, स्त्रियों में पुरुष की तरह प्रवृत्त होता है, उसे "कुम्भिक" जानना चाहिये। अर्थात् जो पुरुष दूसरे पुरुष से अपनी गुदा में अप्राकृतिक मैथुन (Unnatural crime) करवाता है वह (Passive agent) कुम्भीक नपुंसक कहलाता है। इसे इस कर्म के बिना शक्ति नहीं आती—ध्वजोच्छ्राय Erection नहीं होता। इसी का दूसरा नाम गुदयोनि है ॥४१॥

इसके पश्चात् ईर्ष्यक नपुंसक का लक्षण बताते हैं—

ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ॥४१॥
दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते ॥
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः,

जो मनुष्य दूसरों को मैथुन करता देख कर मैथुन में प्रवृत्त होता है, उसे ईर्ष्यक कहते हैं। अभिप्राय यह है कि ऐसे मनुष्यों को, दूसरों को मैथुन करता देखते विना ध्वजोच्छ्राय (Eraction) नहीं होता ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् पांचवें नपुंसक षण्डक का लक्षण बताते हैं—

षण्डकं शृणु पञ्चमम् ॥४२॥
यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ॥
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्ड[3]संज्ञितः ॥४३॥

---

१ यः पुरुषः स्वे गुदे स्वकीयपायौ, अब्रह्मचर्यादन्यपुरुषपार्श्वाद् व्यवायं कारयित्वा पश्चात् स्त्रीषु विषये पुमानिव प्रवर्तते पुरुषवद् व्यवायं करोति स कुम्भीकनामा षण्डो ज्ञेयः। अन्ये तु प्रथमं स्त्रीषु विषये तासामेव स्वकीयगुदविवरे पशुवत् पृष्ठभागे शिथिलेनैव मेहनेन प्रवर्तते। किं निमित्तमेतदित्याह-अब्रह्मचर्यात् क्लैब्यात् संजातशुक्रस्याप्रवृत्तित्वात्। ततश्चानया विप्रकृत्या ध्वजोच्छ्राये संजाते (स एव) स्त्रीषु पुरुषवत् प्रवर्तते स कुम्भीकनामा नपुंसकभेदः। इति डल्हणः।

अस्य कश्यपोक्त उत्पत्तिहेतुर्यथा-"अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेदृतौ। अन्यासक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते कुम्भिल स्तदा।"

२. ईर्ष्यकस्योत्पत्तिहेतुश्चरकोक्तो यथा—

ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्याह्वयस्यापि वदन्ति हेतुम् ॥

३. षण्ढस्तु स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतः स्वमेढ्रस्योर्ध्वप्रदेशेऽपरपुरुषात् वीर्यच्युतिं कारयति ॥ इति डल्हणः।

जो पुरुष मोह-अज्ञान वश ऋतु समय अपनी भार्या में स्त्रियों की तरह प्रवृत्त होता है, और पुनः जो पुत्र पैदा होता है, वह आकार-और चेष्टा में स्त्रियों के समान होता है, उसे षण्ढ कहते हैं । अर्थात् यदि मैथुन विपरीत बन्ध द्वारा हो तो जो पुत्र पैदा होगा उसका नाम षण्ढ होगा ॥४३॥

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि ॥
तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४४॥

यदि ऋतु समय में स्त्री मोहवश पुरुष की तरह प्रवृत्त हो, तो यदि कन्या पैदा होगी तो वह चेष्टा आदि में मनुष्य के समान होगी ॥४४॥

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ॥
सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्ड(ण्ढ) संज्ञितः ॥४५॥

आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भीक तथा ईर्ष्यक ये सशुक्र नपुंसक हैं और षण्ढ नामक नपुंसक अशुक्र (शुक्ररहित) होता है । अर्थात् पहले चार, नपुंसक Impotant तो हैं, पर प्रजाजनन में असमर्थ Sterile नहीं और षण्ढ, नपुंसक Impotant भी है और जननासमर्थ Sterile भी ॥४५॥

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः ॥
हर्षात् स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ॥४६॥

शुक्र भक्षण आदि विपरीत अथवा विशेष स्वभाव द्वारा उन २ की शुक्रवहा शिरायें, हर्ष से फूल जाती हैं, जिसके कारण उन्हें ध्वजोच्छ्राय होता है । अर्थात् शुक्रभक्षण आदि उनके मस्तिष्कस्थित केन्द्र के उत्तेजना (Stimulation) के कारण होते हैं । और इसी उत्तेजना द्वारा वातनाडियां (जैसे Nervi Erigentes) ध्वजोच्छ्राय का कारण होती हैं । इन नाडियों से मूत्रेन्द्रियस्थित मांसपेशियां सिकुड़ती हैं । सिकुड़ने के कारण वहां से रुधिर को वापिस लेजाने वाली शिरा दब जाती है, जिस से रुधिर वापिस नहीं जा सकता और वह वहीं सञ्चित होना प्रारम्भ होजाता है । ध्वजोच्छ्राय के केन्द्र मस्तिष्क और मेरुदण्ड के

---

१ सा स्त्रीरूपापि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तद्योनौ स्वयोनिघर्षणं, करोति इति डल्हणः ।

कटिविभाग दोनों में हैं। प्रायः ये दोनों केन्द्र परस्पर सहमति से ही कार्य करते हैं। साधारण अवस्था में शुक्रक्षरण तभी होता है, जब कि ध्वजोच्छ्राय हुआ २ हो ॥४६॥

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ॥
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥४७॥

स्त्री और पुरुष जैसे २ आहार, आचार तथा चेष्टाओं से युक्त होते हुए समागम करते हैं, उनसे उत्पन्न हुई २ सन्तान भी वैसी ही होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि माता पिता चाहते हैं, कि सन्तान उत्तम हो तो उन्हें मन वचन और कर्म में शुभ होना चाहिये। और उत्तम हितकारी भोजन का ही सेवन करना चाहिये। यदि संयोग के समय मन में कुप्रवृत्ति हो तो सन्तान पर भी उसका प्रभाव पड़ता है ॥४७॥

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन ॥
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४८॥

यदि कदाचित् कामाभिभूत होती हुई दो स्त्रियां कथञ्चन आपस में सङ्गम करें और दोनों ही शुक्र का क्षरण करें, तो अस्थिरहित[1] पिण्ड पैदा होता है। अर्थात् हड्डी के विना मांसपिण्ड ही पैदा होता है।

परन्तु यह बात सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है, क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र ही आचार्य ने यह बताया है, कि शुक्र और आर्त्तव के संयोग होने पर ही गर्भोत्पत्ति होती है। अत एव 'ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः' इत्यादि पहिले कहा गया है। चरक में भी—"शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति"। अर्थात् केवल शुक्र तथा केवल आर्त्तव गर्भोत्पत्ति में कारण नहीं हो सकते, अपितु दोनों के यथेष्ट संयोग से ही गर्भोत्पत्ति होती है। यदि शुक्र शब्द से आर्त्तवातिरिक्त स्त्रियों के शुक्र का ग्रहण किया जाय तो उसके विषय में भी तन्त्रान्तर में कहा गया है कि—

'योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे।
गर्भस्य तन्न किंचित्तु करोतीति न चिन्त्यते" ॥

१-डल्हणस्तु अनस्थिरिति ईषदर्थे नञ्, तेनाल्पकोमलास्थिः।

अर्थात् वह गर्भोत्पत्ति में कदापि कारण नहीं होता। अत एव सिद्धान्त के विरुद्ध होने से यह मत उपादेय नहीं! और अत एव ही इस अनार्ष मानते हैं और लेखक या प्रतिसंस्कर्त्ताओं की भूल अथवा प्रमाद से यहां लिखागया है ॥४८॥

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत ॥
आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ॥
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥ ४९ ॥

जो ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन करती हैं, वायु आर्त्तव से मिलकर उस स्त्री के गर्भाशय में गर्भ को पैदा करता है। ऐसी गर्भिणी स्त्री में प्रति मास गर्भ के लक्षण बढ़ते जाते हैं। अर्थात् जैसे मासिक रुधिर का बन्द होना, प्रातःकालीन उत्क्लेश या वमन इत्यादि लक्षण जो कि आगे बताये जांयगे दीखने लगते हैं। पश्चात् गर्भ कलल के रूप में पैदा होता है, जिसमें पैतृक गुण अर्थात् केश, नख, अस्थि, शुक्र, सिरा, स्नायु आदि नहीं होते। यहां पर भी पूर्वोक्त दोष है, अर्थात् केवल आर्त्तव से गर्भोत्पत्ति नहीं होसकती, क्योंकि ऋतु, क्षेत्र (गर्भाशय), अम्बु (रस, रक्त) आदि के रहते हुए भी बीज के न होने से गर्भ सम्भव नहीं।

वस्तुतस्तु ये रक्तगुल्म नामक रोग का ही वर्णन प्रतीत होता है, देखिये रक्तगुल्म के निदान में चरक क्या कहता है?

"ऋतौ वा वातप्रकोपणान्यासेवमानायाः क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितो योनिमुखमनुप्रविश्यार्त्तवमुपरुणाद्धि, मासि मासि तदार्त्तवमुपरुध्यमानं कुक्षिमभिवर्धयति। तस्याः शूलकासातीसारच्छर्द्यरोचकाविपाकाङ्गमर्दनिद्रालस्यकफप्रसेकाः समुपजायन्ते, स्तनयोश्च स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यं ग्लानिश्चक्षुषोर्मूर्च्छा हृल्लासो दोहदः श्वयथुश्च पादयोरीषल्लोमराज्या योन्याश्चाटालत्वमपि च दौर्गन्ध्यमास्रावश्च जायते, केवलश्चास्या गुल्मः स्पन्दते, तमागर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः।

अर्थात् ऋतुकाल में वातप्रकोपक आहार विहार आदि के सेवन से प्रकुपित हुआ २ वायु रक्तगुल्म को पैदा करता है। यहां पर यह

स्मरण रखना चाहिये कि स्वप्न आदि द्वारा भी वात आदि का कोप हो जाया करता है। जिससे गर्भलक्षणों के समान ही लक्षण पैदा होते हैं। शूल, कास, अतिसार, कै, अरुचि, अपचन, अङ्गमर्द, निद्रा, आलस्य, मुख से कफ अर्थात् लार आदि का अत्यधिक आना; इत्यादि लक्षण होते हैं। स्तनों में दूध, ओष्ठ और स्तनमण्डल में कालापन, आंखों का भारीपन, मूर्च्छा, उत्क्लेश (जीमचलाना), दोहद (विशेष इच्छा), पांव में थोड़ा २ शोथ (Dropsy), लोमहर्ष, योनि का बढना अथवा नील वर्ण का होना और उस से दुर्गन्धियुक्त स्राव होना इत्यादि लक्षण दीखते हैं। और सम्पूर्ण गुल्म का ही स्पन्दन होता है (यह विभेदक परीक्षा है)। ऐसी गर्भ रहित स्त्री को जिसमें ये सम्पूर्ण लक्षण हों, मूढ पुरुष गर्भिणी कहदेते हैं। इस से स्पष्ट ज्ञात होगया कि रक्त-गुल्म में गर्भ के ही समान लक्षण होते हैं। नवम और दशम मास ही प्रसव का समय है और इसकी चिकित्सा भी दशम मास के पश्चात् उसी समय सुखसाध्य होने के कारण होती है।

अत एव सिद्धान्त विरुद्ध होने के कारण यह मत अनुपादेय है। यह भी प्रमादवश किसी संस्कर्त्ता द्वारा लिखागया है। वाग्भट ने भी इनका उल्लेख अपने संग्रह ग्रन्थ में नहीं किया। डल्हण की टीका से भी हमें यह ज्ञात होता है कि सुश्रुत के प्राचीन व्याख्याकार जेज्जटाचार्य ने भी ये दोनों (ऋतुस्नाता० तथा मासि मासि०) श्लोक नहीं पढ़े ॥४९॥

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये ॥
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम् ॥५०॥

सांप, बिच्छू तथा पेठे आदि के सदृश विकृत आकृति (Monsterities)

१—आज कल साधारण तौर से विकृत आकृति वाले भ्रूणों के मोटे २ नाम ये हैं—

(क) Hemitaria—इसे अर्द्ध विकृति कह सकते हैं। इसमें बौने, दैत्य शरीर, अत्यन्त छोटे सिर वाले, छाती के मध्य देश में विभाजक मोटी रेखा या चीर का होना, पैर का टेढ़ा तथा विकृत आकृति में होना, अंगुलियों का संख्या में अधिक होना, दो गर्भाशय होना, दो योनि होना, पर्शुकास्थियों (Ribs) का संख्या में अधिक होना; इत्यादि का समावेश होता है।

वाले जो स्त्रियों को गर्भ होते हैं; वे सब पाप के फल जानने चाहियें ॥५०॥

(ख) Heterotaxia-इस में अवयवों का अपने स्थल पर न होकर दूसरी जगह होना, अण्डवृद्धिजन्य बढ़ाव, गुदा-छिद्र, योनि-छिद्र तथा अन्नप्रणाली-छिद्र का न होना, हृदय के अन्दर Foramen ovale का सर्वदा रहना, गर्भावस्था में नाभि-शिरा की वह शाखा जो खून को सीधा ऊर्ध्वगा महाशिरा में डालती है; उसका प्रसवानन्तर सर्वदा रहना; इसी प्रकार गर्भावस्था में फुप्फुसीया धमनी को जो नाली महाधमनी से मिलाती है; उसका सर्वदा रहना; बत्तख आदि की तरह हाथ या पैर की अंगुलियों के बीच में झिल्ली होना, ऊपर के ओष्ठ का बीच में से दो भागों में विभक्त होना, तालु का मध्य से विभक्त होना, मूत्रप्रणाली का मूत्रेन्द्रिय के ऊपर के भाग में खुलना या तलदेश में खुलना, एक ही व्यक्ति में डिम्बग्रन्थि (Ovaries) तथा अण्डों का होना; इन का समावेश होता है।

(ग) Teratism बनावट की विकृति—

(1) Ectromelic Monster-जिस में हाथ पैर आदि पूर्ण वृद्धि को प्राप्त न हों। (2) Symelic Monster-जिसके नीचे के भाग के अवयव एक देश से अथवा सम्पूर्णतः संयुक्त हों (3) Celosomatic monster-जिसके मध्यभाग या पेट की दीवार का एक भाग या सम्पूर्ण ही, अन्तःस्थित अवयवों के कारण बाहिर निकला हुआ हो । (4) Exencephalic monster-इसमें मस्तिष्क की बनावट ठीक नहीं होती और शिरोगुहा Cranial cavity से ऊंचा उठा होता है । (5) Pseudencephalic Monster—इस में Cranial vault और बृहन्मस्तिष्क नहीं होता । (6) Anencephalic Monster-Cranial vault तथा सम्पूर्ण मस्तिष्क नहीं होता । (7) Cyclocephalic monster-इस में नाक नहीं होती और आंखें कथञ्चित् एक ही प्रतीत होती हैं । (8) Octocephalic monster दोनों कान मध्य रेखा पर आपस में छूते हैं अथवा एक ही होजाते हैं (9) Omphalositic monster-इस में हृदय नहीं होता और यह गर्भ में नाभिनाड़ी द्वारा पुष्ट होता है । प्रसवानन्तर इस में पृथक् जीवन शक्ति नहीं होती। अथवा इसकी वृद्धि साथ के संयुक्त द्वितीय गर्भ से होती है। इस विकृति का कारण यह बताया जाता है कि एक गर्भ का रक्त संवहन दूसरे गर्भ के रक्त संवहन को अभिभूत कर देता है। (10) Double Monster – जिस में दो भ्रूण जुड़े हुए हों। यह कई प्रकार के होते हैं—(a) Sternopagus—यमल अपनी उरोऽस्थि पर परस्पर संयुक्त हों (b) Ischiopagus—युगल अपने २ बस्ति या श्रोणि देशपर संयुक्त हों (c) Cephalopagus – युगल अपने २ शिर से संयुक्त हों (d) Xiphopagus—जो कि कौडी देश अर्थात् उरोऽस्थि की अधस्तरुणास्थि देश पर संयुक्त हों ।

Syncephalic—शिर का कुछभाग जुडा हो, बाकी शरीर पृथक् हो ।
monocephalic—शिर एक हो शरीर पृथक् २ हों ।
Synosomatic—शरीर एक देश से मिले हों, शिर पृथक् हों ।

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वावमानिते ॥
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव वा ॥५१॥

गर्भिणी स्त्री के दोहद (विशेष इच्छा) की पूर्ति न की जाय तो वात प्रकोप द्वारा गर्भाशय स्थित शिशु कुबड़ा, लूला, लंगड़ा, मूक (गूंगा), मिन्मिन (अस्पष्ट बोलने वाला) हो जाता है* ॥ ५१ ॥

मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः ।
वातादीनां च कोपेन गर्भो विकृतिमाप्नुयात् ॥५२॥

माता, पिता की नास्तिक बुद्धि होने से, पूर्व कृत अशुभ कर्मों के कारण तथा वात आदि दोषों के कोप से गर्भ विकृत होजाया करता है ॥५२

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्काशयस्य च ।
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५३॥

मल के अत्यन्त अल्प होने से तथा वायु और पक्काशय के परस्पर-योग[1] न होने से गर्भस्थित शिशु मलवायु, मूत्र तथा पुरीष का त्याग नहीं करता ॥

अर्थात् यतः माता का शुद्ध रुधिर ही गर्भस्थ शिशु का पोषण कर रहा होता है; और साथ ही गर्भाशय स्थित अमरा (Placenta) भी रुधिर की शुद्धि में सहायक होती है, जिससे गर्भस्थ शिशु के पक्काशय में मल अत्यन्त अल्प राशि में ही एकत्रित होता है । इसी प्रकार पक्काशय स्थित वातनाडियों की यथेष्ट उन्नति न होने के कारण प्रसाद संज्ञक अपान वात पक्काशय की अधःप्रेरक तरङ्गवत् गति को पूर्णरूपेण पैदा नहीं करती । जिस के कारण प्रायः मल अन्दर ही रहता है, तथा च जो बाहिर निकलता है, वह भी जरायु में रुके हुए गर्भोदक में पड़ा रहता है ॥ ५३ ॥

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते ॥
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥ ५४ ॥

---

monosomatic-शरीर एक हों, शिर पृथक् २ हों ।

Double Parasitic monster—एक भ्रूण दूसरे भ्रूण के बीच में हो और उसी के रस रक्तादि से पुष्ट होता हो ।

* अगले अध्याय में भी इसका वर्णन होगा । वहीं यह विषय स्पष्ट हो जायगा ।

१–अयोगादिति नञ् ईषदर्थे, तेन ईषद्योगात् इत्यर्थः ।

गर्भस्थ शिशु के मुख के जरायु द्वारा ढका हुआ होने के कारण, और कण्ठ के कफ से लिप्त रहने के कारण तथा वायुमार्ग के रुके हुए होने के कारण; वह रोता नहीं ॥ ५४ ॥

निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति ॥
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसंभवान् ॥५५॥

गर्भ, माता के निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा स्वप्न से उत्पन्न होने वाले निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा स्वप्नों को प्राप्त होता है ।

अर्थात् गर्भस्थ शिशु का मुख जरायु द्वारा ढका हुआ होता है, वह स्वयं श्वास प्रश्वास नहीं ले सकता, परन्तु माता के श्वास प्रश्वास का प्रभाव ही गर्भ पर पड़ता है । यदि माता अशुद्ध वायु में श्वास प्रश्वास ले तो जहां वह स्वयं रुग्ण होगी, वहां उसका गर्भस्थ शिशु भी रोगी होजायगा । यदि अच्छी वायु में श्वास लेगी तो बच्चा भी हृष्ट पुष्ट होगा ।

इसी प्रकार यदि किसी कारण माता क्षुब्ध होती है, तो गर्भस्थ शिशु भी उसी कारण से क्षुब्ध होजाता है । यही स्वप्न की अवस्था है ।

अर्थात् माता के आहार, विहार तथा चेष्टा का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है । अत एव यह कहा जाता है कि माता के श्वास से ही बच्चा श्वास लेता है; इत्यादि ॥ ५५ ॥

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ॥
तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥५६॥

शरीरों का सन्निवेश (ढांचा), दांतों का गिरना और पैदा होना तथा हाथ और पैर की तलियों में रोमों का न होना, स्वभाव से ही होता है ।

अर्थात् मनुष्य के शुक्र से मनुष्यशरीर का ही ढांचा क्यों बनता है ? इत्यादि का उत्तर केवल यही है कि यह प्राकृतिक नियम है, या ऐसा ही होता है । इसमें और कोई युक्ति नहीं बताई जासकती ।

चरक में इसका उत्तर दूसरी प्रकार दिया है—

"तत्र जरायुजानामण्डजानां प्राणिनामेते यां यां गर्भकरा भावा योनिमापद्यन्ते, तस्यां तस्यां योनौ तथा तथा रूपा भवन्ति, तद्यथा-कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु

मधूच्छिष्टविग्रहेषु । ते यदा मनुष्य*विम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते, तस्मात्समुदयात्मकः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते तद्योनित्वात्" ॥

अर्थात् जरायुज और अण्डज प्राणियों के मातृज, पितृज, आत्मज, सात्म्यज, रसज तथा सत्वज गर्भोत्पादक भाव जिस २ योनि (मनुष्य आदि) में प्राप्त होते हैं, उस २ योनि में उस २ विशेष रूप को धारण कर लेते हैं । जैसे—मट्टी में मोम द्वारा बनाये हुए सांचों में सुवर्ण, चांदी, तांबा, रांगा, सीसा आदि को पिघला कर डालने से वे उन २ विशेष रूपों को धारण कर लेते हैं । इन्हें यदि मनुष्याकृति सांचों में डाला जाय तो ये मनुष्याकृति हो जांयगे । इसीलिये अन्य प्राणियों के समान ही मातृज आदि भावों के समुदाय से उत्पन्न होता हुआ वह भी मानव-शरीर के रूप में पैदा होता है । कारण के अनुरूप ही कार्य हुआ करता है , अत एव भी मनुष्य से मनुष्य ही पैदा होता है ॥ ५६ ॥

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः ॥
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५७॥

इस जन्म से पूर्व के शरीर में जो निरन्तर शास्त्रों का अनुशीलन करते रहे हैं और इसी कारण जो ज्ञान विज्ञान आदि द्वारा संस्कृत हो चुके होते हैं, वे ही मनुष्य इस जन्म में सत्त्वप्रधान होते हैं, और पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ॥
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥५८॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जिस कर्म द्वारा प्रेरित हुआ २ पुरुष पुनर्जन्म को प्राप्त होता है तथा जिन २ गुणों का इस शरीर से पूर्व के शरीर में अभ्यास किया है,

*—मनुष्यविम्बमापद्यन्त इति पाठे "विम्बः सच्छिद्रं त्रिकास्थि" तथा च ते मातृजादयो गर्भकरा भावा यदा मनुष्यविम्बमिति नार्याः बस्तिगुहां (Pelvis) तत्र स्थितं गर्भाशयमिति यावत्, आपद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते । इत्येवमर्थ उन्नेयः ।

उस कर्म के फल तथा उन २ गुणों को पुरुष इस जन्म में प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कारविरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

इसके बाद अब गर्भावक्रान्ति-गर्भोत्पत्तिक्रम शारीर की व्याख्या करते हैं ॥ १ ॥

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात्परस्परानुग्रहात्परस्परानुप्रवेशाच्च ॥२॥

पहिले यह बताया जा चुका है कि शुक्र और आर्त्तव के संयोग से ही पुरुष की उत्पत्ति होती है । अतः इसका विशेष वर्णन यहां किया जाता है:—

शुक्र—सौम्य है और आर्त्तव आग्नेय है । परन्तु इस के साथ २ ही इन में सूक्ष्म प्रकार से अन्य भूतों का समावेश भी है, इनमें क्रमशः जल और अग्नि का प्राधान्य है। परन्तु आकाश आदि अन्य भूत भी इन में रहते हैं, क्योंकि इन पांचों महाभूतों का परस्पर सम्बन्ध है और एक दूसरे पर उपकार करते हैं । अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, तथा आकाश क्रमशः धारण, संगठन, परिपाक या परिणाम, यथास्थान अन्य भूतों को पहुंचाना तथा अवकाश अर्थात् भूतों की स्थिति के लिये जगह देना इत्यादि कर्म द्वारा पांचों परस्पर उपकार करते हैं । और ये एक दूसरे के अनुग्राहक हैं । अर्थात् आकाश, वायु आदि किसी एक के विना अवशिष्ट अन्य भूतों से कोई कार्य नहीं होसकता । अथवा जैसे पार्थिव द्रव्य में एक पृथ्वी भूत बलवान् होता है और शेष जल आदि दुर्बल होते हैं, परन्तु पृथिवी भूत बलवान् होता हुआ भी शेष दुर्बल भूतों को आश्रय देकर उन पर अनुग्रह करता है। तथा च ये भूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं।

अत एव कहा गया है-"विष्टं ह्यपरं परेण" अर्थात् पर भूत द्वारा अपर भूत अनुप्रविष्ट है। जैसे आकाश--वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी में अनुप्रविष्ट है, वायु--अग्नि जल और पृथिवी में अनुप्रविष्ट है, अग्नि--जल और पृथिवी में अनुप्रविष्ट है, जल--पृथिवी में अनुप्रविष्ट है।

अथवा वेदान्तोक्त पञ्चीकरण द्वारा इसका समाधान कर लेना चाहिये इसकी व्याख्या इसी स्थान के प्रथम अध्याय में "अन्योन्यानुप्रविष्टानि०" इत्यादि श्लोक के नीचे स्पष्ट करदी गई है ॥ २ ॥

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन, ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते, क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणः, गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥ ३ ॥

Sexual physiology—स्त्री और पुरुष के संयोग के समय वायु (प्रसाद संज्ञक) शरीर से तेज संघर्षज गर्मी अथवा उत्तेजना को उदीर्ण करता है। तदनन्तर तेज और वायु के सन्निकर्ष से क्षरित हुआ २ वीर्य योनिपथ से जाता हुआ गर्भाशय की ओर जाता है और वहां आर्तव के साथ मिश्रित होजाता है। इस के पश्चात् अग्निगुण तथा सोमगुण बहुल के सम्बन्ध से बना हुआ गर्भ (बीज रूप) गर्भाशय में आता है।

अर्थात् स्त्री और पुरुष के संयोग की क्रिया (Copulation) और वीर्यसेचन (Insemination) की क्रिया दोनों ही वातनाडी के केन्द्रों पर ही अवलम्बित हैं। ये केन्द्र मस्तिष्क और मेरुदण्ड के त्रिकभाग में अवस्थित हैं। इन में मस्तिष्क स्थित केन्द्र कामेच्छा को उत्पन्न करता है, मेरुदण्ड स्थित ध्वजहर्ष और वीर्यक्षरण की कला (Machinery) को नियमित करता है। ये दोनों वातकेन्द्र प्रायः इकट्ठे ही कार्य किया करते हैं। अभिप्राय यह है कि जब कामेच्छा उत्पन्न होती है, उसी समय ध्वजहर्ष

(Erection) भी होता है, जो कि त्रिक स्थित विशेष वातनाड़ी (Nervi erigentes) द्वारा होता है। यह हर्ष विशेष तन्तुओं (Erectile tissues) में स्थित रक्त नाडियों (Vascular Sinuses) के रक्त से भरे जाने के कारण होता है। इस समय मूत्रेन्द्रिय के (Bulbo-Cavernosus) तथा (Ischio-Cavernosus) आदि मांसपेशियों का संकोच होता है, जिसके कारण रक्त को अन्दर की ओर लेजाने वाली (Efferent Veins) शिराओं का मार्ग रुक जाता है और रक्त वहीं जमा होने लगता है। जिस के कारण मूत्रेन्द्रिय की लम्बाई और मोटाई बढ़ जाती है।

इस के साथ ही साथ अण्डों की ओर भी रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है और अण्डग्रन्थियां शुक्र को पैदा करने लगती हैं, यह शुक्र शुक्र मार्ग से आकर शुक्राशय में इकट्ठा हो जाता है, और पीछे से इसका क्षरण होता है।

जब परस्पर संघर्ष होता है तब उत्तेजना (Excitement) बढ़ती जाती है और यह उत्तेजना या तेज उदीर्ण होकर अपनी उच्चतम अवस्था को प्राप्त हो जाता है, इस समय पुरुष आनन्द का अनुभव करता है। इस समय ही वात की प्रत्यावर्तित क्रिया (Reflex action) द्वारा वीर्य का क्षरण होता। है। इसका केन्द्र भी सुषुम्ना के कटिभाग में ही होता है। क्षरण होने के समय मार्ग में ही पौरुष ग्रन्थि (Prostate Gland) Cowper's Gland तथा मूत्रेन्द्रिय में स्थित अन्य छोटी २ ग्रन्थियों का पिच्छिल स्राव भी मिल जाता है। जब वीर्य का क्षरण योनि में होता है, तो वीर्य स्थित शुक्राणु या शुक्रकीट योनि से अन्दर की ओर जाते है। एक बार के क्षरण में असंख्य शुक्राणु निकलते हैं। इन में से जो शुक्राणु सब से प्रबल होता है वह योनिमार्ग से अपनी पूंछ की गति द्वारा चलता हुआ गर्भशय्या की ओर जाता है।

इसी समय ही स्त्री बीज (डिम्ब) भी डिम्ब ग्रन्थियों से उत्पन्न होकर आर्त्तववहा धमनी (Fallopian Tube) से होता हुआ गर्भाशय की ओर आता है। आर्त्तववहा धमनी में डिम्ब अत्यन्त शनैः २ मार्ग तय करता है, परिणाम यह होता है कि शुक्रकीट अपनी तेज गति होने के कारण डिम्ब को प्रायः आर्त्तववह धमनी में ही पकड़ लेता है और वहां

शुक्रकीट और डिम्ब आपस में मिल जाते हैं और गर्भोत्पत्ति का कार्य प्रारम्भ होजाता है। यहां से यह बीज रूप होकर गर्भाशय रूपी क्षेत्र में आता है और वहां अङ्कुरित होना प्रारम्भ होजाता है।

क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता, इत्यादि पर्यायवाचक नामों से जिसे पुकारा जाता है और जो अक्षय, अव्यय तथा अचिन्त्य है, वह लिङ्गशरीर के साथ अपने२ कर्मानुसार सत्त्व, रज, तम तथा दैव और आसुर भावों से युक्त हुआ २ वायु द्वारा प्रेरित होकर गर्भाशय में प्रविष्ट होकर अवस्थिति करता है ॥३॥

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ॥४॥

यदि तो शुक्र का आधिक्य होता है अर्थात् वह प्रबल होता है तो पुरुष यदि आर्त्तव (स्त्री बीज) प्रबल होता है तो, स्त्री यदि दोनों समबल हों तो, नपुंसक पैदा होता है ॥४॥

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः; अदृष्टार्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥ ५ ॥

रजोदर्शन के पश्चात् ऋतु बारह दिन तक रहती है। कई आचार्यों का मत है कि रजोदर्शन न होने की अवस्था में भी ऋतु हो सकती है (गर्भस्थिति होजाया करती है)।

दुग्ध काल में जब कि मासिक स्राव (Monthly course) का अवरोध होता है, कई स्त्रियों में गर्भस्थिति होती हुई देखी गई है इसी प्रकार रजोदर्शन से पूर्व तथा रजो निवृत्ति (menopause) के पश्चात् भी गर्भ होता हुआ देखा गया है। अत एव आचार्यों का दूसरा मत भी ठीक है ॥ ५ ॥

भवन्ति चात्र।

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ॥
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम् ॥

१—द्वादशरात्रमिति षोडशदिनेषु मध्ये आद्यं दिनत्रयमन्तिमं च षोडशं योनिसङ्कोचदिनं न गणनीयम्।

स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम् ॥
हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति ॥६॥

ऋतुमती के लक्षण—जिस स्त्री का वदन पीन (मोटा) तथा प्रसन्न हो, जिसका मुख तथा दांत क्लेदयुक्त हों, जो पुरुष की इच्छा करने वाली हो, प्रिय वचन बोलती हो, जिस की कोख, आंख तथा बाल शिथिल हों, जिसकी भुजायें, स्तन, श्रोणिदेश, नाभि, ऊरू, जघनदेश तथा स्फिग् (नितम्ब) में स्फुरण होता हो और जो हर्ष और उत्सुकता से भरी हुई हो, उसे ऋतुमती जानना चाहिये ॥६॥

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा ॥
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥७॥

जैसे दिवस के समाप्त होने पर (सूर्यास्त के समय) कमल का फूल सङ्कुचित होजाता है, उसी प्रकार ऋतु के पश्चात् योनि भी सङ्कुचित होजाती है, अर्थात् योनि का मुख बन्द होजाता है ।

योनि का मुख बन्द होजाने से वीर्य गर्भाशय तक नहीं पहुंच सकता । और अतएव गर्भोत्पत्ति नहीं होती ॥७॥

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् ॥
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥८॥

वह आर्त्तव (आर्त्तवोपलक्षित डिम्ब Ovum), जो कि एक मास से परिपक्व होता हुआ पूर्ण होजाता है, समय पर वायु दोनों धमनियों (Fallopian tubes) से प्रेरित करके योनिमुख की ओर ले आता है । और इसी समय गर्भाशय से रक्त भी मासिक स्राव के रूप में प्रकट होता है । यह रक्त किंचित् कृष्ण वर्ण का तथा विकृत गन्धवाला होता है ॥८॥

---

१ The menstrual discharge consists of blood mixed with secretion and epithelium from the uterus and with epithelium from the vagina. This admixture with mucus and epithelium takes place to such an extent by the time the vagina reached, that the blood does not clot. It is dark and rather viscid or stringy from its admixture with cervical mucus. The menstrual discharge has also some odour due to slight

तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः ॥
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥९॥

यह मासिक शोणितस्राव बारह वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होकर जरा-वृद्धावस्था से परिपक्व शरीर वाली स्त्रियों की ५० वर्ष की आयु होने पर नष्ट होजाता है।

अर्थात् मासिकस्राव १२ वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होता है और ५० साल की आयु में बन्द होजाता है। यह समय रजोनिवृत्ति Menopause का है। स्त्री की ५० साल की आयु तक ही प्रायः सन्तानोत्पत्ति हो सकती है ॥९॥

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला ॥
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत् ॥१०॥

ऋतुकाल के युग्म[२] अर्थात् समसंख्यक दिनों में (चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें) मैथुन से (यदि उस दिन के बीज से गर्भोत्पत्ति प्रारम्भ होजाय) पुत्र—लड़का उत्पन्न होता है, और अयुग्म—विषमसंख्यक दिनों के (पाचवां, सातवां, नौवां, ग्यारहवां) संयोग से लड़की उत्पन्न होती है। अतः सन्तान की इच्छा करने वाले पुरुष को चाहिये कि वह पवित्र होकर पुष्पकाल—ऋतुकाल में स्त्री से संयोग करे ॥१०॥

---

decomposition, which takes place during its passage through the vagina. Menstrual blood taken directly from the interior of the uterus has no odour and it clots like ordinary blood. (crossen)

१ Menopause—In a healthy woman menstruation ceases at the age of 44 to 47. There is considerable variation in this respect, the menses sometimes cease in three or four years before that age or continuing three or four years afterward. It is very exceptional however for menstruation to cease before forty or to coutinue after fifty. (Crossen)

२-विदेहेनापि-'युग्मेषु तु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुमांसं प्रसूयेत ॥ अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद्बहुतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते ॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ॥११॥

सद्योगृहीतगर्भा के लक्षण—अर्थात् जिस स्त्री ने अभी ताज़ा ही गर्भधारण किया हो उस में श्रम (थकावट), ग्लानि (दिल का ख़राब रहना या जी मिचलाना), पिपासा (प्यास लगना); टांगों का शिथिल होना, शुक्रशोणित का अवबन्ध (रुकजाना) और योनि का स्फुरण होना (Vaginal pulsation) आदि लक्षण होते हैं ॥११॥

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा ।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥ १२ ॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् ।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥ १३ ॥

स्तनों के मुख का (Areola, स्तनमण्डल) काले वर्णका होना (pigmentation), लोम हर्ष, आंखों की पलकों का विशेषतः बन्द होना, अनिच्छा से कै होना, शुभ गन्धों से उद्विग्न होना-अर्थात् सुगन्धों का पसन्द न आना, मुख में लालाप्रसेक और शिथिलता; ये गर्भिणी के लक्षण हैं ।

चरक में गर्भापत्ति (गर्भप्राप्ति) के लक्षण स्पष्ट दिये हैं—जैसे—

'आर्त्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषःछर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण, श्रद्धाप्रणयनश्चोच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यमोष्ठस्तनमण्डलयोश्च काष्ण्यर्मत्यर्थम्, श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्या योन्याश्च चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति ।'

अर्थात् आर्त्तव का प्रवृत्त न होना (Suppression of menstruation), मुख में लाला का अधिक आना, अन्न में इच्छा न होना, छर्दि-कै (विशेषतः प्रातःकाल जिसे Morning sickness कहते हैं), अरुचि, विशेष कर अम्ल (खट्टे) रस के भोजन की इच्छा, किन्ही ऊंच नीच पदार्थों में श्रद्धा हो जाना, शरीर का भारी होना, आंखों का भारी होना, ग्लानि, स्तनों में दूध का दिखाई देना, ओष्ठ और स्तनमण्डल (Areola) की अत्यन्त कृष्णता (Pigmentation), पांव में थोड़ा २ शोथ होना, लोमराजि और योनि का चाटाल (चौड़ा अथवा नीला-

जामनी) होना, ये लक्षण गर्भाशय में गर्भप्राप्ति होने पर दिखाई देते हैं ॥१३॥

तदा प्रभृति[1] व्यवायं व्यायाममपतर्पणमतिकर्शनं[2] दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं[3] भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत ॥ १४ ॥

जब उपर्युक्त लक्षणों से निश्चय होजाय कि गर्भप्राप्ति होगई है, तो उसी समय से (अर्थात् प्रथम मास से ही), व्यायाम, व्यवाय (मैथुन), अपतर्पण (अपने को दुर्बल करने वाले आहार विहार आदि का सेवन), अतिकर्षण (अत्यन्त कृश करनेवाले आहार), दिन में सोना, रात को जागना, शोक, यानों पर चढ़ना—घोड़े आदि की सवारी करना, भय, उत्कटुक आसन (उकड़ू बैठना), इन का एक दम त्याग करना चाहिये । असमय में स्नेहादि क्रिया, रक्तमोक्षण आदि न कराने चाहियें, तथा मूत्र पुरीष आदि के वेगों को न रोकना चाहिये ॥१४॥

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते ।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥ १५ ॥

वात आदि दोषों तथा आघात आदि द्वारा गर्भिणी स्त्री का जो २ भाग या अंग पीड़ित होता है (रोगी होता है), गर्भस्थित बच्चे का भी वही २ भाग पीड़ित होजाया करता है ।

अतः पूर्वोक्त व्यायाम आदि अपथ्य का त्याग करना चाहिये। नहीं तो जहां स्त्री उसके कारण रोगिणी होगी, वहां स्त्री के साथ २ ही गर्भस्थित शिशु भी रोगी होगा । गर्भिणी को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है ॥१५॥

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते; द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति, तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति, चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभि-

---

१ 'प्रभृत्येव' इति पा० । २ अतितर्पणमिति पा० ।
३ 'यानावरोहणं' इति पा० ।

व्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्राय-मिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते, दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यदिच्छेत्तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ॥१६॥

गर्भोत्पत्तिक्रम--शुक्रशोणित के संयोग के पश्चात् प्रथम मास में (गर्भ) कलल[1]रूप (बुद्बुदाकार) होता है। दूसरे महीने में शीत[2], उष्णि[3]मा तथा वायु द्वारा पञ्चमहाभूतों के संघात का परिपाक होकर घन (गाढ़ा) होजाता है। यदि यह घन पिण्डाकार[4] हो तो जानना चाहिये कि पुरुष (नर), यदि पेशी के आकार का (दीर्घाकृति) हो तो स्त्री और यदि अर्बुद (Tumour) के आकार का हो तो नंपुसक (गर्भ) है-ऐसा जानना चाहिये ॥

तीसरे महीने में दो हाथ, दो पांव और शिर; इनकी सूचक पांच पिण्डकायें निकल आती हैं, परन्तु अभी अङ्ग और प्रत्यङ्ग का विभाग सूक्ष्म ही होता है। अर्थात् इस महीने में शिर आदि के सूचक किंचित् उन्नत छोटे २ पिण्ड ही दिखाई देते हैं। परन्तु यह व्यक्त नहीं होता कि ये हाथ आदि हैं। हाथ आदि आकृति अगले महीनों में बनती है।

चौथे महीने में सम्पूर्ण अंग और प्रत्यङ्ग पहिले की अपेक्षा स्पष्ट-तर होजाते हैं। और गर्भ के हृदय के भी (इसी मास में) व्यक्त होजाने के कारण चेतना धातु भी अभिव्यक्त होता है। क्योंकि हृदय ही चेतना का स्थान है। अतएव ही चौथे महीने में गर्भ इन्द्रियविषयों में अभिप्राय (इच्छा) करता है।

इस समय गर्भ--हृदय और मातृ--हृदय-दो हृदय होने के कारण द्विहृदया स्त्री को दौहृदिनी (दोहद युक्त-गर्भस्थशिशु के होते हुए माता की विशेष पदार्थों में इच्छा का नाम दोहद है) कहते हैं। दोहद की

१-कललं सिङ्घाणप्रख्यम्।

२-शीतः श्लेष्मा। ३-ऊष्मा पित्तम्।

४-चतुरस्रा भवेत्पेशी, वृत्तः पिण्डो घनः स्मृतः। शाल्मलीमुकुलाकारमर्बुदं परिचक्षते। इति गयदासः।

पूर्ति न करने से स्त्री कुबड़े, कुणि (लूला), लंगड़ा, जड़, बौने, विकृत आंखों वाले या अन्धे पुत्र को जनती है । अतः वह जिस २ पदार्थ की इच्छा करे, उसे वह २ पदार्थ देना चाहिये । दोहद की प्राप्ति होने से वीर्य-वान् और दीर्घायु पुत्र पैदा होता है ॥१६॥

भवन्ति चात्र ।

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी ।
गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत् ॥१७॥

गर्भिणी स्त्री इन्द्रियों के जिन २ विषयों का उपभोग करना चाहे, गर्भहानि के भय से वैद्य को चाहिये कि उन २ पदार्थों को लाकर दिल-वावे । अर्थात् यदि इस समय गर्भिणी की इच्छा पूर्ति न हुई तो गर्भ को हानि होने का डर होता है ॥१७॥

सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम् ।
अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम् ॥ १८ ॥

गर्भिणी को यदि दोहद की प्राप्ति होजाती है तो, गुण युक्त पुत्र उत्पन्न होता है । अन्यथा गर्भ अथवा अपने में (स्त्री में) विकार आदि का भय रहता है ॥१८॥

येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना ।
प्रजायते सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये ॥ १९ ॥

जिन २ इन्द्रिय विषयों में दोहद की पूर्ति नहीं होती, पुत्र की उस २ इन्द्रिय में ही पीड़ा-विकार होजाता है ॥१९॥

राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः ।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ २० ॥

जिस स्त्री को राजा के दर्शन का दोहद (इच्छा) होता है, वह धन-वान् तथा भाग्यशाली कुमार को जनती है ॥२०॥

दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात् ।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥ २१ ॥

यदि दुकूल (दुपट्टा, क्षौमवस्त्र), पट्ट (वस्त्र), कौषेय (रेशमीवस्त्र) तथा भूषण (गहने) आदि का दोहद हो तो सुन्दर तथा अलङ्कार-प्रिय पुत्र को जनती है ॥२१॥

आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते ॥ २२ ॥

यदि आश्रम (मुनियों के वासस्थान) में रहने अथवा उसके देखने की अभिलाषा हो तो यती और धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न होता है ॥२२॥

देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥ २३ ॥

यदि देवताओं के प्रतिमा (मूर्ति-चित्र) के दर्शन की अभिलाषा हो तो पार्षद सदृश (सभ्य) पुत्र को उत्पन्न करती है ॥२३॥

दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते ॥ २४ ॥

सर्प आदि व्यालजाति के दर्शन में दोहद से हिंसाशील पुत्र उत्पन्न होता है ॥२४॥

गोधामांसाशने पुत्रं सुषुप्सुं धावनात्मकम्[1] ॥ २५ ॥

यदि गोह के मांस खाने की इच्छा हो तो निद्रालु तथा दौड़ने वाला पुत्र उत्पन्न होता है ॥२५॥

गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा ॥ २६ ॥

गोमांस में दोहद हो तो बली और सम्पूर्ण कष्टों को सहने वाला पुत्र उत्पन्न होता है ॥२६॥

माहिषे दौहृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्[2] ॥ २७ ॥

यदि माहिष मांस (भैंस का मांस) में दोहद हो तो शूरवीर, लाल आंखों वाला और लोमयुक्त सन्तान होती है ॥२७॥

वराहमांसात् स्वप्नालुं शूरं संजनयेत् सुतम् ॥ २८ ॥

यदि वराह मांस (सूअर के मांस) में दोहद हो तो निद्रालु एवं शूर पुत्र को नारी उत्पन्न करती है ॥२८॥

मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम् ॥ २९ ॥

मृगमांस से उद्योगी तथा जंघा से युक्त अर्थात् तेज दौड़ने वाले, वेगवान् और सदा वनचर (जङ्गल में घूमने वाला) पुत्र उत्पन्न होता है २९

सृमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात् ॥ ३० ॥

इसी प्रकार सृमर[3] (गवय) के मांस से चञ्चल मनवाला और तीतर

---

१ धारणात्मकमिति पाठे हृदयगृहीतवस्तूनाममोचकम् ॥

२ 'लोमशं सुतम्' इति पा० ।

३ सृमरो महाशूकरः, अन्ये महाश्वाकारश्चमरानूकः ।

के मांस से डरपोक सन्तान होती है ॥३०॥

अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौर्हृदम्।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति ॥ ३१ ॥

अतः इन से अतिरिक्त अनुक्त पदार्थों में भी जो स्त्री दोहद का ध्यान करती है—चाहती है, वह उस २ पदार्थ के शरीर आचार और शील के समान ही पुत्र को जनती है ॥३१॥

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत् ॥
यथा तथा दैवयोगाद्दौर्हृदं जनयेद्धृदि ॥३२॥

जैसे जन्तु का भावितव्य (होने वाला जन्म आदि) कर्म द्वारा प्रेरित होता है, वैसे ही दैवयोग से हृदय में दोहद उत्पन्न होता है। अर्थात् जैसे भवितव्यता कर्म पर निर्भर करती है, वैसे ही दोहद भी। क्योंकि शिशु तो अभी गर्भ में ही हैं तो उसका इन्द्रियार्थों में अभिप्राय असंगत सा प्रतीत होता है। उसका ही उत्तर दिया है-पूर्वजन्म कृत कर्म के अनुसार ही गर्भस्थ शिशु इन्द्रियार्थों में अभिप्राय करता है और तत्सम्बन्धी ही माता को दोहद होता है ॥३२॥

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्ग-विभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च, ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्? नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥ ३३ ॥

पांचवें महीने में मन पूर्वापेक्षया अधिक प्रतिबुद्ध होजाता है। छठे महीने में बुद्धि, सातवें में सम्पूर्ण अङ्ग और प्रत्यङ्गों का विभाग और भी अधिक स्पष्ट होजाता है।

आठवें महीने में गर्भस्थ शिशु का ओज अस्थिर होता है, अतः यदि इस समय प्रसव होजाय तो वह शिशु ओजोरहित होने के कारण जीवित नहीं रहता। तथा च इस मास में उत्पन्न बालक का ओज निर्ऋति (निशाचर) छीन लेते हैं, इस लिये भी बालक जीवित नहीं रहता। अतः

१ 'अस्थिरं भवति' इति पा०।
२ 'नैर्ऋतभागधेयत्वात्' इति पा०।

इस समय मांस और ओदन की बलि निर्ऋति के लिये देनी चाहिये ।

अष्टम मास के पश्चात् नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें; इन में से किसी महीने में प्रसव होता है । यदि इन महीनों में न हो तो जानना चाहिये कि गर्भ विकार युक्त है ।

चरक मुनि ने अष्टम मास में ओज की अस्थिरता का कारण बताया है, कि उस समय रसवाहिनियों द्वारा परस्पर ओज का दान और आदान हो रहा होता है । माता के ओज का कुछ अंश एक दूसरे में आ जा रहा होता है ।

इस पर व्याख्या करते हुए इन्दु ने कहा है कि जब ओज गर्भ में गया हुआ हो और तब जन्म होजाय तो गर्भ जीवित रहता है । यदि माता में जा चुका हो और तब उत्पत्ति हो तो उत्पन्न शिशु मरजाता है। यदि किंचित् ओज गर्भस्थ शिशु में हो भी तो वह ओज प्रसवकालीन परिवर्तनों से क्षीण होजाता है । परन्तु चक्रपाणि का मत है कि चाहे ओज गर्भ में ही हो परन्तु उस समय जन्म भी मरण के लिये ही होता है और वह इसका कारण अदृष्ट बताता है । चरक ने 'नैर्ऋतभागत्वाच्च गर्भस्य' यह हेतु नहीं दिया ।

चरक कहता है कि अष्टममास के पश्चात् एक दिवस व्यतीत होजाने पर नवम मास से लेकर दसवें मास तक यथोचित काल है । सुश्रुत ने अल्पदोष को भी अदोष में ही परिगणन किया है—ऐसा प्रतीत होता है ।

यद्यपि गर्भोत्पत्ति क्रम से पूर्व ही गर्भप्राप्ति के लक्षण दिये गये हैं, परन्तु अब विस्तार से दिये जाते हैं:—

गर्भप्राप्ति के लक्षणों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१—काल्पनिक, २—सम्भावित ३—अवश्यम्भावी.

काल्पनिक चिह्न—इनको प्रायः स्त्रियां स्वयं ही अनुभव करती हैं । परीक्षा करने पर ये अनिश्चित रूप में ही होते हैं—

(क) **शोणितावबन्ध**—Suppression of the menstruation—

यह सब से प्रथम लक्षण है, जिसके कारण स्त्रियां अपने को सगर्भा समझती हैं । जिन्हें मासिक शोणितस्राव नियम पूर्वक होता रहा हो यह चिन्ह विशेष महत्व का है । परन्तु यह लक्षण कई अन्य कारणों से भी

उत्पन्न होसकता है—जैसे पाण्डु, हलीमक, यौवनारम्भ में होने वाला क्षय तथा निर्बल करने वाले या देह में रक्त को न्यून करने वाले आन्त्रि-कज्वर (Typhoid, सन्निपातज्वर) आदि रोगों के कारण भी रजः स्राव नहीं होता

नवोढा स्त्रियों में भी कभी २ कुछ मास के लिये स्राव का अवरोध देखा गया है । गर्भस्थिति के डर से ही कई अविवाहित स्त्रियों में भी यह लक्षण होजाता है । इसके साथ २ रजोनिवृत्ति (Menopause, जो कि लगभग ५० वर्ष की अवस्था में हुआ करता है) काल के समीप पहुंचने पर शोणितावबन्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार इससे विपरीत गर्भस्थिति होजाने पर भी कभी २ स्राव प्रवृत्त होता रहता है । यद्यपि यह अवस्था बहुत कम देखी जाती है । तथापि प्रथम तीन मासों में यह होना सम्भव है ।

भावी गर्भपात का निर्देश कराने वाला रक्तस्राव भी कभी २ मासिक पुष्पदर्शन का धोखा दे देते हैं ।

दुग्धकाल में यदि शोणितावबन्ध हो तो भी गर्भप्राप्ति होजाया करती है । जिन्हें दुग्धकाल में भी स्राव प्रवृत्ति रहती है, गर्भप्राप्ति बहुत शीघ्र होजाती है । रजोदर्शन (बारहवें वर्ष) से पूर्व तथा रजोनिवृत्ति (Menopause) के पश्चात् भी गर्भप्राप्ति होती हुई देखी गई है (अदृष्टार्त्तवोऽप्यरतीत्येके भाषन्ते) ।

(ख) **प्रातःकालीन वमन**–छर्दि Morning sickness तथा उत्क्लेश (जी मचलाना, Nausea, हृल्लासः–अष्टाङ्गसंग्रह) सामान्यतः प्रातः कालीन वमन द्वितीय मास से चतुर्थ मास तक रहता है । कइयों को इस समय उत्क्लेश ही रहता है और कई स्त्रियों को उत्क्लेश और वमन दोनों होते हैं ।

(ग) **स्तनों में परिवर्तन**-(स्तनयोश्च स्तन्यम्, स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम्, चरक), लब्धगर्भा होने के पश्चात् ही तीसरे या चौथे सप्ताह में गर्भिणी को अपने स्तनों में एक प्रकार के चुभने तथा गुदगुदी का अनुभव होता है । दूसरे महीने से इनमें वृद्धि स्पष्ट दिखाई देने लगती है । चूचुक श्याम वर्ण के होजाते हैं । चौथे या पांचवे महीने के पश्चात्

स्तनों को दबाने से एक पतला स्निग्धद्रव जिसे खीस(पीयूष,Colostrum)कहते हैं-निकाला जासकता है। तीसरे महीने में चूचुक के चारों ओर के स्तनमण्डल (रंग के निक्षिप्त Pigmentation होने के कारण) भूरे काले से दिखाई देते हैं। गौर स्त्रियों में यह रंग गहरा लाल होता है। यह चिन्ह प्रथम गर्भस्थिति में विशेष महत्व के होते हैं। यतः स्तनमण्डल की कृष्णता प्रथम गर्भप्राप्ति के पश्चात् पूर्णतया लुप्त नहीं होती, अतः क्रमशः होने वाली गर्भप्राप्तियों में निश्चायक नहीं हो सकती।

डिम्बार्बुद (Ovarian tumour) या शोणित गुल्म में भी स्तनवृद्धि और दुग्धस्राव पाया जाता है।

(घ) **उदर में परिवर्तन** (कुक्षिमात्रगौरवं—वृद्ध वाग्भट, सप्तमे मासे गर्भोत्पीडनाद्धि वातपित्तश्लेष्माणः उरः प्राप्य विदहन्ति, ततः कण्डूरुपजायते, कण्डूमूला किक्किसावाप्तिः—चरक) उदर की शनैः २ वृद्धि बड़े महत्व की है। पहिले दो महीनों में उदर का निचला भाग फैल जाया करता है। गर्भाशय की वृद्धि के कारण उदर में भी वृद्धि दिखाई देती है। जिसमें कि स्पष्टतया पञ्चम मास से प्रतीति होती है और क्रमशः जैसे गर्भाशय बढ़ता है लगभग दो २ अंगुल उदर भी ऊपर की ओर ऊंचा उठता जाता है। अन्त में उरोऽस्थि की निचली तरुणास्थि (Xiphoid process) तक उठ आता है। दशम मास में पुनः दो अंगुल नीचे उतर जाता है।

गर्भस्थिति के अन्य चिन्हों के साथ ही यदि किक्किस भी हों तो ये भी पहिचान में सहायक होते हैं। ये लगभग सातवें महीने में दीखते हैं। गर्भाशय के बढ़ने के कारण उदरभित्ति के खिंच जाने से त्वचा की निचली स्तर फट जाती है। जिससे पेटपर दरारें सी मालूम होती हैं, उरःस्थल के नीचे भी ऐसी ही रेखायें दिखाई देती हैं। इन्हें किक्किस Stria Gravidarum कहते हैं। यह रेखायें भी पुनः लुप्त नहीं होतीं, प्रथम गर्भस्थिति में उदरभित्ति के कठिन होने के कारण वृद्धि स्पष्ट दिखाई नहीं देती। आंत में हवा भरने आदि के कारण भी यद्यपि उदर की वृद्धि होती है पर वह क्रम से नहीं होती। किन्हीं अन्य कारणों से उदरभित्ति के तन जाने पर भी किक्किस प्रादुर्भाव होजाता है।

(च) **नाभि**—प्रथम तीन मास में गहरी तथा संकुचित होती है।

चौथे, पांचवें तथा छठे मास में क्रमशः उथली होती जाती है। सातवें मास में उदर के समतल होजाती है। अगले दो महीनों में यह उदर से ऊपर उभर आती है।

(छ) **गर्भस्पन्दन ज्ञान**–Quickening–इससे अभिप्राय माता को गर्भस्थित शिशु के स्पन्दन के सबसे प्रथम ज्ञान से हैं। यह ज्ञान ४॥ या ५ महीने के गर्भ के होने पर होता है। ("तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते तत्कालमेव चेतसि वेदनानिवन्धं प्राप्नोति। तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते प्रार्थयते च"–चरक। "तदा (तृतीये मासे) चास्य वेदना प्रव्यक्ता भवति। ततश्च तत्प्रभृति स्पन्दतेऽभिलाषं पञ्चेन्द्रियार्थेषु करोति" अष्टाङ्ग संग्रह। "तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मासि अभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति" सुश्रुत।)

चौथे महीने के पश्चात् इसका ज्ञान होने में दो कारण हैं-१-इस समय से पहिले गर्भाशय उदर की अन्तःभित्ति से स्पर्श नहीं करता। यदि स्पन्दन गर्भाशय की दीवार से आकर उदराभीत्ति में पहुंचे तभी गर्भिणी को उसका ज्ञान होता है। पांचवें महीने से पहिले गर्भ इतना वृद्धि को प्राप्त नहीं होता कि वह गर्भाशय को इतना फैलासके। पांचवें महीने में गर्भ की विशेष वृद्धि होती है ('पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः"-चरक।) २-कइयों का मत है कि इस समय से पूर्व गर्भ या भ्रूण गति (स्पन्दनरूप) करने में असमर्थ होता है। परन्तु चरक आदि तीसरे और चौथे महीने में स्पन्दन मानते है। परन्तु यतः ये स्पन्दन बहुत हलके होते हैं और गर्भोदक Liquor Amnae की मात्रा अधिक होती है, गर्भाशय को पारकर के उदरभित्ति तक नहीं पहुंच सकते।

(ज) **मूत्राशय का विक्षोभ** (Irritation) यह पहले सप्ताहों तथा अन्तिम दो या तीन सप्ताहों में होता है। 'आसन्नप्रसवायाः......मूत्रपुरीषबाहुल्यम्' अ. सं.)

(झ) **अनेक वातसम्बन्धी प्रत्यावर्तित लक्षण**-Various reflex nervous symptoms ये लक्षण पहिचान में सहायक होते हैं। प्रथम

गर्भप्राप्ति में जब कि स्त्री इनका अनुभव करलेती है दूसरी और अगली गर्भस्थितियों में विशेष सहायक होते हैं। वे लक्षण ये हैं—स्वभाव चिड़चिड़ा होजाना, सुस्ती (सदनं-सुश्रुत), अरोचक, भूख न लगना (अनन्नाभिलाषः-चरक), लार टपकना (आस्यसंस्रवणम्-चरक, प्रसेकः-सुश्रुत)। गर्भिणी को विशेष वस्तुओं की स्पृहा होने लगती है। मट्टी खाने की इच्छा तथा खट्टे और मसालेदार भोजन में रुचि बहुत देखी जाती है (अम्लकामता च विशेषेण, श्रद्धाप्रणयनञ्चोचावचेषु भावेषु-चरक)।

२-**सम्भावित चिन्ह**—ये सब वे चिन्ह हैं, जिन्हें चिकित्सक परीक्षा द्वारा निश्चित करता है। प्रायः इन लक्षणों का सम्बन्ध गर्भाशय से होता है।

गर्भाशय के परिमाण व आयतन में वृद्धि-गर्भ के बिना गर्भाशय अन्य किसी कारण से इतनी शीघ्रता सातत्य तथा क्रम से कभी नहीं बढ़ता। यद्यपि काल्पनिक Presumptive चिन्हों में उदर की वृद्धि बताई जा चुकी है, परन्तु यदि हम यह दिखादें कि उदर का फैलाव गर्भाशय के कारण ही है, तो हमें अधिक निश्चय होजाता है।

गर्भाशय की आकृति में परिवर्तन—पहिले तीन मासों में ये अपना नाशपाती का आकार छोड़कर वृत्ताकार होजाता है। पुनः चतुर्थमास से उदर की ओर बढ़ता हुआ अण्डाकार होजाता है। द्वितीय मास में गर्भाशय हंस के अण्डे के बराबर होता है। तीसरे में बड़ी नारंगी के समान। इस मास में गर्भाशय के उर्ध्वांश (Fundus) को विटपसन्धि (Symphisis pubis) पर टटोल सकते हैं। चतुर्थ मास के अन्त में वस्तिगह्वर के किनारों तक चढ़ आता है और उदर की सन्मुख भित्त से आलगता है। इस समय इसका उर्ध्वांश विटपसन्धि से दो इञ्च ऊपर आजाता है। पाचवें महीने के बाद नाभि से दो अंगुल नीचे होता है। छठे में नाभि से कुछ ऊपर पहुंच जाता है। सातवें, आठवें तथा नवम मास के अन्त में उरोऽस्थि की तरुणास्थि (जिसे पंजाबी में कौड़ी कहते हैं, Xiphoid Process) तक पहुंच जाता है। दसवें महीने वा प्रसव काल से दो सप्ताह पहिले मूत्राशय (वस्ति) की ओर सामने झुक जाने के कारण दो अंगुल

नीचे उतर आता है । (विमुच्य हृदयमुदरमाविशति, वस्तिशिरोऽव-गृह्णाति) ।

अर्थात् गर्भाशय की वर्तुलाकृति और सम सन्तत विस्तार एवं गर्भाशय की सन्मुख तथा पृष्ठ भित्ति पर सीता (Furrow, हल चलाने से जैसी लकीर पड़ जाती है) के दर्शन इत्यादि २ चिन्ह गर्भ की सम्भावना के परिपोषक हैं।

गर्भाशय के गात्र की घनता Consistancy **में परिवर्तन**—गर्भ-स्थिति के पूर्व सप्ताहों में गर्भाशय मृदु तथा स्थितिस्थापक (elastic) होजाता है। पहिले तीन महीनों में इसकी दीवारें तन्तुओं की वृद्धि के कारण मोटी होजाती हैं, पश्चात् गर्भ के बढ़ने के कारण खींचे जाने से दीवारें पतली होजाती हैं। जिससे कि पिछले तीन चार महीनों में हम गर्भस्थ शिशु को टटोल सकते हैं।

छठे सप्ताह से दसवें सप्ताह तक–यदि हम योनि के अन्दर दो अंगुली सीधी डालें जो कि गर्भाशय की ग्रीवा तक पहुंच जांय और पुनः दूसरे हाथ की अंगुलियों से भग देश पर विटप सन्धि के ऊपर दबावें तो गर्भा-शय की दीवार के स्थितिस्थापक होने के कारण दोनों अंगुलियां मिल सी जांयगी और उनके बीच में वर्तुलाकृति गर्भाशय अनुभूत होगा।

गर्भाशय का सान्तर आकुञ्चन—Intermittant uterine con-traction--यदि तीसरे महीने में गर्भाशय के ऊपर उदर पर दोनों हाथ रक्खे जावें तो गर्भाशय में तरंग समान आकुंचन की प्रतीति होगी। ये आकुञ्चन प्रति पांच मिनट पर होते हैं। आकुञ्चन की प्रत्येक तरंग के समय गर्भाशय कठिन तथा दृढ़ होजाता है। यह चिन्ह बहुत ही आवश्यक है।

यद्यपि यह चिन्ह विशेष प्रकार के अर्बुद में भी उत्पन्न होसकता है पर उनमें यह आकुञ्चन एक भाग में ही सीमित रहता है।

गर्भाशय की ग्रीवा में परिवर्तन–गर्भाशय के परिवर्तन के साथ ही ग्रीवा में भी कुछ परिवर्तन होजाते हैं। इसमें रक्तसंचार अधिक होता है, जिससे यहां का स्राव बढ़ने लगता है, जिससे ग्रीवा ढीली और कोमल

होजाती है और परिणामस्वरूप श्लेष्मा का दृढ़ पिधान (Plug, डाट) बन जाता है और ग्रीवा- मुख को बन्दकर देता है। गर्भकाल में यह मुख बन्द रहता है। यह परिवर्तन गर्भाशय के बाह्यमुख से प्रारम्भ होकर सारी ग्रीवा में फैल जाता है।

योनि-स्फुरण- Vaginal pulsation (स्फुरणञ्च योनेः-सुश्रुत) योनि की धमनियों के परिमाण में बढ़ जाने के कारण पार्श्ववर्ती दीवारों में परीक्षार्थ प्रविष्ट अंगुलियों को स्फुरण प्रतीत होता है ॥

योनि में परिवर्तन (योन्याश्चाटालत्वम्-चरक)—रक्तसंचार अधिक होने के कारण योनि की श्लैष्मिक कला नीलीसी पड़ जाती है। यह अवस्था द्वितीय या तृतीय मास के प्रारम्भ में होती है। इसके अतिरिक्त योनि के निम्नभाग में शिरायें फूल २ कर मुड़ जाती हैं। तथा सूक्ष्म पिण्डों (Pappilloe) के उभरने के कारण योनि खुरदरी सी हो जाती है

गर्भव्युदसन-(Bellotment) से अभिप्राय गर्भाशयस्थित गर्भ को धीरे से गति देकर परीक्षा करने की रीति से है। यह दो प्रकार का होता है। १-अन्तः और २-बाह्य।

अन्तः गर्भव्युदसन की विधि—स्त्री को पीठ के बल सीधा लेटा दो और कन्धों को उपधान (तकिया) द्वारा कुछ ऊंचा रखो। अब योनि में दो अङ्गुलि इस प्रकार प्रविष्ट करो कि गर्भाशय-ग्रीवा के सामने तक पहुंच जांय। वहां पर भ्रूण का कठिन सिर पड़ा हुआ होगा। दूसरा हाथ गर्भाशय के ऊर्ध्वांश (Fundus) स्थल पर रखो। स्त्री से गहरा श्वास लेने तथा दो तीन क्षण रोक रखने के लिये कहो। इसी समय अन्तःप्रविष्ट अंगुलियों से ऊपर की ओर एक झटका दो। गर्भ-भ्रूण का शिर गर्भोदक में ऊपर चला जायगा और और अन्तः प्रविष्ट अंगुलियों से अलग होजायगा। एक क्षण के बाद भ्रूण का शिर पुनः नीचे आता हुआ अन्तः प्रविष्ट अंगुलियों पर आ लगेगा, जैसे कोई भारी चीज आपड़ी हो। यह परीक्षा चौथे से सातवें मास तक की जा सकती है।

परन्तु गर्भाशय में अर्बुद अथवा मूत्राशय में अश्मरी होने से इसका धोखा हो सकता है॥

बाह्य गर्भव्युदसन—गर्भाशय के दोनों पार्श्वों पर दोनों हाथ उदर पर धरो। एक हाथ की अंगुली से उदरभित्ति को झटका दो। तो भ्रूण दूसरे हाथ की अंगुलियों को लगता प्रतीत होगा और पुनः लौट कर पहिले हाथ को छूएगा।

गर्भाशय स्वन—Uterine souffle-एक प्रकार का शब्द जो गर्भाशय के निचले भाग में दोनों ओर चौथे मास के अन्त से सुनाई देता है। यह शब्द माता की नाडी-गति के समकाल में ही होता है और भस्त्राशब्द के सदृश परन्तु हलका होता है। यह शब्द गर्भाशय सम्बन्धी धमनियों की शाखाओं से गर्भाशय की दीवारों में स्थित विकसित हुई २ रक्तवाहिनियों में रक्त के गुज़रने से अर्थात् सङ्कुचित से प्रसरित जगह में जाने के कारण उत्पन्न होता है। निर्बल स्त्रियों में यह शब्द तीव्र सुनाई देता है। यदि शब्द के सुनते समय गर्भाशय का आकुञ्चन हो, तो यह शब्द पूर्वापेक्षया ऊंचा और तीव्र होजायगा। यह शब्द भ्रूण-हृच्छब्द से दो या तीन सप्ताह पहिले ही सुनाई देने लगता है॥

अवश्यम्भावी Positive **लक्षण**—

भ्रूण हृदय शब्द का सुनना और उसके स्पन्दन को गिनना—

गर्भोत्पत्ति क्रम में कहा गया है कि चतुर्थ मास में गर्भ-हृदय व्यक्त होना प्रारम्भ हो जाता है (चरक के मत में तृतीय मास से), जो कि पांचवें मास में अच्छी प्रकार व्यक्त होजाता है। अत एव वृद्धवाग्भट ने पक्षान्तर दिखाते हुए "अन्ये तु पक्षत्रयात् प्रभृत्यापञ्चमान्मासाद्दौहृदकालमाहुः" कहा है। अतएव गर्भ का हृच्छब्द पांचवें मास के आधे वा अन्त में सुनाई दिया करता है। इसकी संख्या एक मिनट में १२० से १४० तक होती है। बड़े शिशु में कम तथा छोटे में अधिक स्पन्दन होते हैं। बालकों में १३० से कम और बालिकाओं में १३० से अधिक स्पन्दन होते हैं। भ्रूण की अपनी गतियों के कारण भी हृत्स्पन्दन बढ़ जाता है। एवं गर्भाशय के आकुंचन तथा अपरा (Placenta) या नाल पर किसी प्रकार का दबाव पड़ जाने से हृत्स्पन्दन की संख्या न्यून होजाती है। यह Oxygen (विष्णुपदामृत, अम्बरपीयूष, ओषजन) की कमी तथा Co_2

(कार्वोनिक ऐसिड गैस, कोकिलाम्लवाष्प, कार्बनिकाम्ल गैस) की अधिकता के कारण भी कमी हो जाती है। यदि हृत्स्पन्दन १०० से कम और १६० से अधिक वार हों, तो गर्भस्थ शिशु का जीवन संकटमय जानना चाहिये। सबसे प्रथम हृत्स्पन्दन-शब्द विटपसन्धि Symphisis pubis के ऊपर मध्यरेखा में सुनाई देता है। उसके पश्चात् शब्द के तीव्रतम सुनाई देने का स्थान बच्चे की स्थिति के अनुसार बदलता रहता है। चूंकि यह शब्द पर्शुकास्थियों (Ribs) तथा स्कन्धास्थि (Scapula) को पार करके आता है, अतः गर्भाशय की भित्ति के उस भाग पर जहां बच्चे का स्कन्ध होगा, यह शब्द अधिक स्पष्ट सुनाई देगा। शिशु की साधारणतम स्थिति में यह हृच्छब्द नाभि तथा वामवङ्क्षणास्थि (Left Illeum) के बीच में स्पष्ट सुनाई देता है। इस शब्द को सुनने के समय गृह में पूर्ण शान्ति होनी चाहिये। सुनने के समय द्विनालीयन्त्र (Stethoscope) और उदर-स्थित वस्त्र में व्यवधान जितना कम हो सके, उतना अच्छा है। गर्भ के हृच्छब्द के परिगणन के पश्चात् माता की तथा अपनी नाडी को भी गिनना चाहिये। क्योंकि कभी २ माता के हृदय या महाधमनी Aorta का शब्द या अपना ही (चिकित्सक का) हृच्छब्द सुनाई देता है और वह बच्चे का समझ लिया जाता है। यदि ऐसा ही भ्रम हो, तो जब गर्भस्थ शिशु का हृच्छब्द सुन रहे हों, एक हाथ माता की जीवसादिणी धमनी (Pulse) पर रखे। यदि दोनों समकाल में होते हुए न प्रतीत हों, तो बच्चे का हृत्स्पन्दन ही समझना चाहिये। इस हृच्छब्द से जहां गर्भ का ज्ञान होता है, वहां उसके जीवित होने की भी पुष्टि होजाती है। यदि शब्द सुनाई न दे, तो यह न समझना चाहिये कि बच्चा अवश्य ही मरा हुआ है, क्योंकि ऐसा कई कारणों से हो सकता है। हां यदि एक वार सुनने के पश्चात् अनेक वार यत्न करने पर भी सुनाई न दे तो शिशु के मृत्यु की कल्पना की जा सकती है।

भ्रूण हृच्छब्द तथा गर्भाशयस्वन के अतिरिक्त अन्य शिशु के गिरने आदि के शब्द भी सुनाई दे सकते हैं। कई स्त्रियों में नालस्वन Funic Souffle भी सुनाई देता है। यह हृच्छब्द के समकाल में ही होता है। यह नाभि-

नाल के रक्त परिवहन की बाधा का सूचक है। यह बाधा नाभिनाल में गांठ पड़ जाने से या नाल के भ्रूण पर लिपट जाने से या भ्रूण का नाल पर दबाव पड़ने से उपस्थित होती है। गर्भप्राप्ति के अन्त में यह १० प्रतिशत स्त्रियों में सुनाई देता है। इसका सम्पूर्ण गर्भकाल में सुनाई देना अच्छा नहीं। परन्तु यदि नालस्वन कभी भी सुनाई दे तो गर्भ का पूर्ण निश्चायक है॥

गर्भस्थ शिशु के कर चरण आदि अंगों की परीक्षा—गर्भावस्थिति के मध्यकाल से माता के उदर पर स्पर्श द्वारा शिशु के भिन्न २ अङ्गों का परिज्ञान किया जा सकता है।

गर्भस्थ शिशु की गतियां—इन का ज्ञान माता को पहिले २ गर्भावस्थिति के पांचवें छठे महीने में होता है। उसी समय उदर पर स्पर्श द्वारा तथा ध्यान पूर्वक कान लगाकर (उदर पर) अथवा द्विनाली यन्त्र द्वारा आघात का पता लगा सकते हैं। पिछले महीनों में गर्भिणी के उदर को छूने से शिशु की गति उत्तेजित होजाती है। पतले उदर वाली स्त्रियों में ये गतियां दीख भी सकती हैं।

साधारण तौर पर चिकित्साभ्यास में काल्पनिक लक्षण Presumptive symptoms ही गर्भावाप्ति के निश्चय के लिए पर्याप्त होतेहैं ३३

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति; तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात्[1] प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति॥३४॥

माता की रसवहा नाडी में ही गर्भनाभि-नाडी बंधी हुई होती है। यह गर्भनाभि-नाडी माताके आहार रस के वीर्य को गर्भस्थ शिशु में पहुंचाती है। इसी उपस्नेह[2] (आहाररस-वीर्यरूपी) से गर्भ की अभिवृद्धि

१ असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गविभागं तु गर्भं निषेकात् प्रभृति" इति पा०।

२ तथा च भोज:-"गर्भो रुणाद्धि स्रोतांसि रसरक्तवहानि वै। रक्ताजरायुर्भवति नाडी चैव रसात्मिका। सा नाडी गर्भमाप्नोति तया गर्भस्य वर्तनम्॥ यद्यदश्नाति मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम्। तस्मादन्नाद्रसीभूतं वीर्यं त्रेधा प्रवर्तते॥ भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते गर्भः पुष्यति भागेन वर्धते च यथाक्रमम्॥ गर्भं कुल्येव केदारं नाडी प्रीणाति तर्पिता॥

होती है।

परन्तु जब तक गर्भ के अङ्ग प्रत्यङ्ग व्यक्त नहीं होते और नाभिनाडी अपने रूप में नहीं आती उससे पूर्व गर्भाधान से लेकर सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में व्याप्त तिर्यग्गमनशील रसवहा धमनियों के उपस्नेह[1] से ही उसका संजीवन होता है ॥ ३४ ॥

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवतीत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणां[2]; हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्; नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः; पाणिपादमिति मार्कण्डेयस्तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य; मध्यशरीरमिति सुभूतिगौतमस्तन्निबद्धत्वात् सर्वगात्रसंभवस्य; तत्तु न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिर्गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च; तद्यथा—चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथग् दृश्यन्ते, कालप्रकर्षात्; तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते, सूक्ष्मत्वात्, तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति; एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः; तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति ॥३५॥

गर्भ में सब से प्रथम किस अङ्ग की उत्पत्ति होती है—

शौनक मुनिका मत है कि सम्भवतः सबसे प्रथम गर्भका शिर उत्पन्न होता है-क्योंकि शिर ही शरीर के सम्पूर्ण इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) का मूल है[3]।

कृतवीर्य का मत है कि बुद्धि और मन का स्थान होने से हृदय सब से पूर्व-उत्पन्न होता है॥

पाराशर्य (पराशर का पुत्र) का मत है कि चूंकि प्राणियों के शरीर

---

१ यथा पूर्णसरःसलिलोपस्नेहस्तीरजाततरुकदम्बकं जीवयति, तद्वत् धमनीनामुपस्नेहो जीवयति।

२ 'देहेन्द्रियाणाम्' इति पा०।

३ इस से हम यह भी समझ सकते हैं कि पूर्व आचार्यों को मस्तिष्क का ज्ञान था, और वे जानते थे कि यहीं पर इन्द्रियों के ज्ञान तथा कर्म के केन्द्र हैं, जिनके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियां अपने २ विषयों में प्रवृत्त होती हैं।

की वृद्धि नाभि द्वारा ही होती है, अतः सबसे पूर्व नाभि का उत्पन्न होना ही सम्भव है ॥

मार्कण्डेय मुनि का मत है कि हाथ पांव ही सबसे पूर्व उत्पन्न होते हैं, क्योंकि गर्भ की चेष्टा के वही मूल कारण हैं (इस गर्भ-चेष्टा का ज्ञान माता को चौथे पांचवें महीने में होता है)।

सुभूति गौतम का मत है, कि मध्य शरीर की ही उत्पत्ति सबसे पूर्व होती है, क्योंकि सम्पूर्ण शरीरकी उत्पत्ति इसी पर आश्रित है ॥

ये सब मत ठीक नहीं- धन्वन्तरि कहते हैं कि सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्ग युगपत् (एक साथ) ही पैदा होते हैं, परन्तु सूक्ष्म होने से उनकी उस समय उपलब्धि नहीं होती। दृष्टान्त के तौर पर वंशाङ्कुर (वांस के अङ्कुर) तथा आम्रफल को ही लीजिये। अर्थात् जैसे आम के परिपक्व होने पर उसके केशर, मांस (गूदा), अस्थि (गुठली), मज्जा (गुठली के बीच की गिरी) काल प्रकर्ष से पृथक् २ दीखते हैं, परन्तु वे ही कच्चे आम में सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई देते। इन सूक्ष्म केशर आदि को ही काल व्यक्त कर देता है। इससे ही वंशाङ्कुर की व्याख्या भी होगई।

इसी प्रकार गर्भ की तरुणावस्था में सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गों के होने पर भी उनके सूक्ष्म होने से उपलब्धि नहीं होती, समय पाकर ही वे व्यक्त हो जाते हैं॥ ३५ ॥

तत्र गर्भस्य पितृजमातृजरसजात्मजसत्त्वजसात्म्यजानि शरीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः। गर्भस्य, केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्त्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः, वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि ॥ ३६ ॥

अब गर्भ-शरीर के पितृज, मातृज, रसज, आत्मज, सत्त्वज तथा

१- इसी प्रकार के ऋषियों के बहुत से विप्रतिवाद चरकसंहिता में शारीर स्थान के छठे अध्याय में दिये गये हैं

सात्म्यज लक्षणों का प्रवचन करते हैं—

गर्भ के केश (बाल), श्मश्रु (दाढी मूंछ), लोम, अस्थि (हड्डी), नख, दांत, शिरा (Veins), स्नायु (Ligaments), धमनी (Artery) तथा वीर्य आदि स्थिर (कठिन) अवयव पितृज होते हैं।

मांस, रुधिर, मेद (चर्वी), मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत् (जिगर, (Liver) प्लीहा (तिल्ली, Spleen), आन्त्र (आंतें, Intestines) तथा गुदा (Rectum) प्रभृति मृदु अंग मातृज होते हैं ॥

शरीर का उपचय (मोटा या पतला होना) बल, वर्ण (Complexion) स्थिति तथा हानि प्रभृति लक्षण रसज हैं ॥

इन्द्रियां, ज्ञान, विज्ञान, आयु, सुख, दुःख आदि आत्मज हैं।

सत्त्वज लक्षणों को हम आगे चलकर कहेंगे ।

वीर्य, आरोग्य, बल, वर्ण तथा मेधा आदि सात्म्यज होते हैं ॥

अर्थात् गर्भ; पिता, माता, रस, आत्मा, सत्त्व तथा सात्म्य; इनके समुदाय से ही पैदा होता है । इसकी विशेष व्याख्या चरकसंहिता शारीर स्थान के तृतीय अध्याय में की गई है ॥ ३६ ॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति, दक्षिणाक्षिमहत्त्वं च, पूर्वं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति, बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति, स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव, प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्[1], यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति ॥ ३७ ॥

गर्भ में बालक या बालिका की पहिचान—

जिस गर्भिणी स्त्री के दक्षिण स्तन में प्रथम दूध दिखाई दे, दाहिनी आंख भारी हो, और दक्षिण सक्थि (ऊरू, जांघ) पहिले उत्कर्ष को प्राप्त हो और जिसका दोहद बहुत करके पुंल्लिङ्ग नाम वाले द्रव्यों में होता हो, जिसे पद्म (कमल), उत्पल, कुमुद, आम्रातक (अम्बाडा) आदि पुंनामक द्रव्यों

१ विद्यात्' इति पा० ।

के स्वप्न आते हों और जिसका मुखवर्ण प्रसन्न हो, वह पुत्र को जनेगी-ऐसा समझना चाहिए। यदि इससे विपरीत हो तो कन्या को जनेगी-ऐसा जानना चाहिये।

जिस गर्भिणी स्त्री की कुक्षि के दोनों पार्श्व एक से ऊंचें हों, पेट आगे को निकला हुआ हो, और पूर्वोक्त लक्षण जिसमें विद्यमान् हों तो नपुंसक गर्भ है-ऐसा जानना चाहिए।

जिसका पेट बीच में से दबा हुआ हो और द्रोणी (टब) की आकृति का हो, वह जोड़ी को जनेगी ऐसा जानना चाहिए। चरक में लिखा है—

सव्यांगचेष्टापुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते॥
पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्ययेण व्यामिश्रलिङ्गां प्रकृतिं तृतीयाम्॥ ३७॥

देवताब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः॥
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥ ३८॥

जो माता, पिता, देवता, ब्राह्मणों की पूजा करते हैं, आदर से देखते हैं तथा शौच एवं सदाचार युक्त होते हैं, वेही गुणी पुत्रों को पैदा करते हैं और इससे विपरीत शील वाले निर्गुणों को॥ ३८॥

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते॥
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तिजाः॥ ३९॥

इति तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अङ्ग प्रत्यङ्गों की निर्वृत्ति (उत्पत्ति) स्वभाव से ही होती है। परन्तु इन की उत्पत्ति में जो गुण या अवगुण होते हैं, वे २ गर्भ के धर्म-अधर्म के कारण ही होते हैं॥ ३९॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने तृतीयोऽध्यायः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातो गर्भव्याकरणं (नाम) शारीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

इसके बाद गर्भव्याकरण नामक शारीर की व्याख्या करते हैं ॥१॥

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥२॥

अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम, चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा भूतात्मा (जीव); ये प्राण हैं। इनके विना शरीर की अवस्थिति नहीं हो सकती। अग्नि और सोम शब्द से कई क्रमशः पित्त और श्लेष्मा का ग्रहण करते हैं ॥२॥

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्या[1]भिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो[2] भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्ववर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना; द्वितीया लोहिता नाम, व्रीहिषोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता नाम, व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा चर्मदलाजगल्लीमशकाधिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नाम व्रीहेरष्टभागप्रमाणा, विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पञ्चमी

---

१ 'शुक्रशोणितस्य' इति केषुचिद्धस्तलिखितपुस्तकेषु नोपलभ्यते।

२ चरके तु षट्त्वचोऽभिहिताः—तद्यथा-प्रथमा उदकधरा त्वग् बाह्या। द्वितीया त्वसृग्धरा। तृतीया सिध्मकिलाससंभवाधिष्ठाना। चतुर्थी दद्रुकुष्ठसम्भवाधिष्ठाना। पञ्चम्यलजीविद्रधिसम्भवाधिष्ठाना। षष्ठी तु यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति यां चाप्यधिष्ठायारूंषि जायन्ते पर्वसु कृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यतमानि चेति।

गणनाथसेनस्तु प्रत्यक्षशारीरे-त्वचो नाम सर्वदेहावरणरूपा भूमिः स्पर्शनेन्द्रियस्य स्रोतसाञ्च स्वेदवहानां रोम्णामपि सरोमकूपानाम्। ताः स्थूलदृष्ट्या स्तरद्वयविभक्ताः बहिस्त्वग्भागो (Epidermis) अन्तरस्त्वग्भागश्चेति (Dermis)। तत्र बहिस्त्वङ्नामातीव तन्वी कृष्णगौरादिवर्णाधारा वह्निस्पर्शेन स्फोषपिडकाव्यञ्जना च। अन्तरस्त्वङ् नाम स्थूला शरीराभिरक्षणी स्नेहादिकर्षणी च। सैव प्रधानायतनं स्पर्शभूमेः स्वेदस्रुताञ्च मार्गाणाम्।

यद्यपि स्थूलदृष्ट्या तु स्तरद्वयप्रविभक्तैव प्रतिभाति त्वचा परं सूक्ष्मदृष्ट्या अणुवीक्षणादीनां यन्त्राणां साहाय्येन सा सप्तसु स्तरेषु प्रविभक्ता दृश्यते। तत्र स्थूलदृष्ट्या दृश्यमानो बहिस्त्वग्भागः पञ्चभिः स्तरैः अन्तरस्त्वग्भागश्च द्वाभ्यां स्तराभ्यां पूर्यते। एवं च सप्तत्वचो भवन्ति इति यत्सुश्रुतेनोक्तं तत्साम्प्रतमेव।

वेदिनी नाम, व्रीहिपञ्चभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; षष्ठी रोहिणी नाम, व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना; सप्तमी मांसधरा नाम, व्रीहिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना । यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु, न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु, यतो वक्ष्यत्युदरेषु-व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येदिति ॥३॥

उस इस प्रकार (भूतात्माधिष्ठित होकर) प्रवृत्त हुए २ शुक्र शोणित रूप बीज के परिपक्व होते हुए सात त्वचायें बनती हैं, जैसे दूध को पकाने से उस पर मलाई आजाती है। अर्थात् जिसे हम त्वचा Skin कहते हैं, उसकी सात स्तर होती हैं। प्रथम त्वचा-जो कि हमें ऊपर २ दिखाई देती है—**अवभासिनी** कहलाती है। ये सब वर्णों को प्रकट करती है और पांचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। इसकी मोटाई एक व्रीहि (धान्य) के अठारहवें भाग के बराबर होती है, और इसी त्वचा में सिध्म और पद्मकण्टक आदि रोग होते हैं ॥

दूसरी त्वचा का नाम **लोहिता** है। यह व्रीहि के सोलहवें भाग के बराबर मोटी होती है। और यही त्वचा तिलकालक, व्यङ्ग तथा न्यच्छ आदि रोगों का अधिष्ठान है ॥

तृतीय त्वचा को **श्वेता** कहते है। यह व्रीहि के बारहवें भाग के बराबर मोटी होती है। और इसी में चर्मदल, अजगल्ली तथा मशक (मस्से) आदि रोग होते हैं ॥

चौथी त्वचा का नाम **ताम्रा** है। इसकी मोटाई व्रीहि के आठवें भाग के बराबर होती है। यह त्वचा विविध प्रकार के किलास और कुष्ठों Skin diseases का अधिष्ठान है ॥

पांचवी त्वचा **वेदिनी** कहलाती है। यह व्रीहि के पांचवें भाग के बराबर मोटी होती है। कुष्ठ (Skin diseases) और विसर्प (Erysipalus) इसी स्तर में होते हैं।

छठी त्वचा को **रोहिणी** कहते हैं। ये व्रीहि के बराबर मोटी होती है। इस स्तर में ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड, आदि रोग

होते हैं ॥

सातवीं त्वचा का नाम **मांसधरा** है। ये दो व्रीहि के बराबर मोटी होती है। इस में भगन्दर, विद्रधि, अर्श-आदि रोग होते हैं।

ये, जो सातों त्वचाओं का प्रमाण बताया गया है, ये मांसल स्थानों का है। ललाट (मस्तक) तथा अंगुली आदि सूक्ष्म स्थानों का नहीं। चूंकि आगे उदररोग में कहा जायगा-कि "व्रीहिमुख शस्त्र से अंगूठे की चौड़ाई जितना गहरा वेधन करे" अतः इससे ज्ञात होता है, कि यह प्रमाण मांसल स्थानों के लिये ही है ॥३॥

कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति[1] धात्वाशयान्तरमर्यादाः[2] ॥ ४ ॥

धातु और आशयों के अन्दर मर्यादाभूत कलायें भी सात होती हैं ॥४॥

भवतश्चात्र[3]।

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥
तथा धातुर्हि मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥ ५ ॥

जैसे वृक्षों के काष्ठ को काटने से उनका सार दीखने लगता है, वैसे ही मांस को काटते हुए धातु दिखाई देती है। अभिप्राय यह है कि जैसे लकड़ी को काटने से उनकी रसवहाओं की मर्यादा के कटजाने से रस बहने लगता है। इसी प्रकार मांस को काटने से मांस के अन्दर स्थित शिराओं की मर्यादा के कटजाने से रुधिर बहने लगजाता है। यदि यह मर्यादा न कटे तो शोणित आदि धातु बाहिर नहीं निकलती ॥५

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा ॥
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥ ६ ॥

---

१ भवन्ति' इति पा०।

२ डल्हणस्तु-दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः तेषामाशया अवस्थानप्रदेशा धात्वाशयाः तेषामन्तरेषु मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः।

३ 'भवन्ति चात्र' इति पा०

४ वृद्धवाग्भटेन कलास्वरूपमभिहितम्—"यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते स यथास्वमूष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषोऽल्पत्वात् कलासंज्ञः"।

कलाओं का स्वरूप—जो स्नायुओं से ढके हुए होते हैं और जरायु अर्थात् झिल्ली से व्याप्त होते हैं और जो श्लेष्मा से वेष्टित होते हैं, उन्हें कलाभाग जानना चाहिये । अर्थात् जिन्हें आजकल mucous membrane, epithelium, synovial membrane आदि नामों से कहते हैं, उन्हें ही आयुर्वेद में कला कहा गया है ॥६॥

तासां प्रथमा मांसधरा नाम; यस्यां मांसगतानां सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥ ७ ॥

इन सात कलाओं में से पहिली **मांसधरा** कहलाती है—जिसमें मांसगत शिरा, स्नायु, धमनी तथा स्रोतों के प्रतान (शाखायें) होते हैं। अर्थात् इस कला में से गुज़र कर ही वह मांस में जाती हैं ॥७॥

भवति चात्र ।

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः ॥
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥८॥

जैसे भूमि पर पङ्क (कीचड़) तथा जल में स्थित बिस और मृणाल चारों ओर बढ़ते हैं, इसी प्रकार मांस में शिरायें चारों ओर बढ़ती हैं। अर्थात् जैसे मृणाल आदि की शाखा प्रशाखायें होकर वृद्धि होती है, इसी प्रकार मांस में शिरायें(Blood-vessels) भी शाखा प्रशाखा रूप में फैलती जाती हैं ॥८॥

द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति ॥ ९ ॥

दूसरी कला का नाम **रक्तधरा** है। यह मांस के अन्दर होती है,

अस्याग्रे-धात्वाशयान्तरेऽन्नस्य यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति ।
देहोष्मणा विपक्वस्तु सा कलेत्यभिधीयते । इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते ।
अर्थात् धातु एवं आशयों के अवकाशस्थान में जो अन्न का क्लेद होता है, वह ही कायाग्नि द्वारा पकाया जाकर कला का रूप धारण कर लेता है।

१ यस्यां मांसे इति पाठान्तरे तु "यस्यां कलायामधिष्ठिते मांसे सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना विस्तारा भवन्ति" इत्येवमर्थो ज्ञेयः ।
'मांससिरास्नायुधमनीस्रोतसां' इति वै. पं. हरिप्रपन्नसंमतः पाठः । विशेषविवरणं तु रसयोगसागरस्योपोद्धाते १६४-१६५पृष्ठयोर्द्रष्टव्यम् ॥

२ 'स्रवति' इति पा० ।

जिन में रक्त का संवहन होता है । ये कला विशेषतः शिराओं (Blood-vessels) में और यकृत् (जिगर) और प्लीहा (Spleen) में होती हैं ॥ ९ ।

भवति चात्र ।

वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्[1] ॥
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते[2] ॥ १० ॥

जैसे दूध वाले वृक्ष पर कुल्हाड़ी आदि के आघात से दूध निकलना प्रारम्भ हो जाता है, इसी प्रकार मांस को काटने से रक्त निकलने लगता है ॥१०।

तृतीया मेदोधरा नाम; मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति[3] ॥ ११ ॥

तीसरी कला का नाम **मेदोधरा** है । मेद (चर्बी) सम्पूर्ण प्राणियों के उदर में तथा छोटी २ हड्डियों में होती है, और बड़ी अस्थियों में मज्जा । अर्थात् मेद और मज्जा दोनों को धारण करने वाली कला का नाम मेदोधरा है ॥११॥

भवति चात्र ।

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ॥
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ॥ १२ ॥
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥१३॥

वसा, मेद और मज्जा में भेद—विशेषतः स्थूल हड्डियों के मध्य

---

१ 'क्षीरमास्रवेत्' इति पा० ।

२ प्रतिरिच्यते' इति पा०

३ तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मास्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यं च' इत्यष्टाङ्गसंग्रहेऽधिकः पाठः ।

'मेदो नाम—सान्द्रसर्पिस्तुल्यः स्नेहधातुः शरीरस्य । तस्य स्थानमुदरान्तः, त्वचामधश्च । वसा तु मांसान्तरानुप्रविष्टः स्नेहस्तस्या मेदस्यनुप्रवेशस्तुल्योपादानत्वात् । मज्जा नाम अस्थिमध्यगतः स्नेहः । स द्विविधः पीतो रक्तश्च तत्र पीतो नलकास्थ्नामन्तः, रक्तास्त्वितरास्थिषु, प्रान्तभागेषु च नलकास्थ्नाम् । सोऽयं स्थूलस्वरूपेण मेदसोऽभिन्नोऽपि कर्मवैशेष्यात्पृथगेव धातुः' (प्रत्यक्षशारीर प्र. भा. पृ. १०)

में मज्जा हुआ करती है, और छोटी पतली हड्डियों में रक्त युक्त मेद होता है तथा शुद्ध मांस का जो स्नेह है, उसे वसा कहते हैं। परन्तु साधारणतः मेद शब्द से तीनों का ही ग्रहण होता है ॥१२-१३॥

चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम; सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥ १४ ॥

चौथी कला का नाम **श्लेष्मधरा** है। ये प्राणियों की सम्पूर्ण सन्धियों पर होती है ॥१४॥

भवति चात्र।

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते ॥
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥ १५ ॥

जैसे चक्र के अक्ष (धुरी) में तेल देने से वह अच्छी प्रकार चलता है, वैसे ही श्लेष्मा (Synovial fluid) से युक्त सन्धियां अपना २ कार्य अच्छी तरह करती हैं ॥१५॥

पञ्चमी पुरीषधरा नाम; याऽन्तः कोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था ॥ १६ ॥

पांचवीं कला का नाम **पुरीषधरा** है। यह कोष्ठ के अन्दर पक्वाशय में स्थित हुई २ मल को पृथक् करती है ॥१६॥

भवति चात्र।

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला[1] ॥ १७ ॥

कोष्ठ में यकृत् (जिगर)के पास से प्रारम्भ कर सम्पूर्ण आंतों में स्थित मलधरा कला उण्डुक (Caecum) स्थित मल को पृथक् करती है। अभिप्राय यह है कि क्षुद्रान्त्र के प्रारम्भिक भाग ग्रहणी (Duodenum)

---

१ समस्तकोष्ठस्थितत्वं चास्याः स्पष्टीकुर्वन्नाह—"समन्तात् सर्वतो यकृतादिकं समाश्रिता उण्डुकस्थं मलं विभजते । तत्र यकृद्ग्रहणं रक्ताधारसाम्येन प्लीह उपलक्षणं यकृत्समीपानां हृदयादीनाञ्च, उण्डुकग्रहणेन सान्निध्याद् गुदं गृह्यते, तेनोर्ध्वं यकृदादि व्यवस्थितं अधस्ताद् गुदपर्यन्तं कोष्ठं समन्तात् समाश्रिता"। इति डल्हणः ।

"यकृतः कोष्ठस्य आमाशयादेश्च समन्तात् समीपत इत्यर्थः । यथा नाभेरधो दक्षिणतः स्थितस्य क्षुद्रान्त्रसीमासन्निविष्टस्योण्डुकस्यापरप्रान्तेन सम्बद्धं वृहदन्त्रमूर्ध्वमुखीभूय ग्रहण्या दक्षिणपार्श्वतोऽधस्तदामाशयमपसव्यं कृत्वा गुदमनुगतम् । तथैव तदन्तर्वर्त्तिनी मलधरा नाम कला उण्डुकस्थं पक्वं मलं विसृजती"ति हाराणचन्द्रः ।

को छोड़ कर जो कि प्रायः ११ इञ्च परिमित होती है अगले भागों में (अर्थात् Jejunum ७या८फीट और Ileum १०फीट या१२ फीट) जो श्लैष्मिक कला (Mucous membrane) होती है तथा जो बृहदन्त्र में श्लैष्मिक कला होती है, उसका नाम मलधरा कला है। यहां पर ही मुख्यतः भुक्त पदार्थ का मल और प्रसाद संज्ञक भाग पृथक् होता है। भुक्तपदार्थ का विपक रस छोटी आंतों में लसीकावाहिनियों द्वारा खींच लिया जाता है। इस के पश्चात् अवशिष्ट मल पदार्थ उण्डुक (Caecum) में आजाता है। यह बृहदन्त्र का आदि है। जो थोड़ा बहुत सारभाग बचा होता है, वह बृहदन्त्र में से लसीकावाहिनियों द्वारा खैंच लिया जाता है। पर उण्डुक के पश्चात् यह कार्य बहुत ही थोडा होता है। केवल जल ही अधिक मात्रा में खींचा जाता है। बृहदन्त्र उण्डुक से प्रारम्भ होकर गुदा पर्यन्त होता है। उण्डुक आंतों का सबसे चौड़ा भाग है। यहां से आगे बृहदन्त्र के भागों के स्थिति भेद से भिन्न २ नाम हैं। जैसे Asceending Colon, Transverse Colon, Descénding Colon, Iliac Colon, Pelvic Colon और अन्त में गुदा (Rectum)। उण्डुक के पश्चात् प्रायः मल ही अवशिष्ट रहता है। अत एव उस स्थल को मल का विभाग करने वाला कहा गया है। अर्थात् परिपक्व होकर रसवाहिनियों द्वारा रस के खींचे जाने पर बृहदन्त्र के आदिभाग उण्डुक में मल इकट्ठा होता है ॥१७॥

षष्ठी पित्तधरां नाम; या चतुर्विधमन्नपानमुपश्च (यु) क्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥ १८ ॥

छठी कला का नाम **पित्तधरा** है। जो चारों प्रकार के खाये हुए अन्न पान को आमाशय (Stomach) से निकल कर पक्वाशय में जाने के लिये आये हुए को धारण करती है। यह स्थल ग्रहणी (Duodenum) कहलाता है। अष्टाङ्ग संग्रह में कहा भी है—

---

१ 'षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था। सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति, पक्वं च विमुञ्चति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणीसंज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानमतः साऽग्निनोपस्तब्धोपबृंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति, । अष्टाङ्गसंग्रह।

"षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था, सा ह्यन्तरग्न्यधिष्ठानतयामपक्वाशययोर्मध्ये चतुर्विधमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति ॥१८॥"

भवन्ति चात्र ।

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् ॥
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥ १९ ॥

मनुष्यों के कोष्ठ में पहुंचा हुआ अशित, खादित पीत और लीढ़ चारों प्रकार का भुक्त पदार्थ पित्त के तेज से सुखाया जाकर यथा समय जीर्ण होजाता है, पच जाता है ॥१९॥

सप्तमी शुक्रधरा नाम; या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥२०॥

सातवीं कला का नाम **शुक्रधरा** है ; जो सम्पूर्ण प्राणियों के अखिल शरीर में व्याप्त रहती है ॥२०॥

भवति चात्र ।

यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा ॥
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥ २१ ॥

जैसे दूध में घी और ऊख के रस में गुड रहता है, उसी प्रकार मनुष्यों के शरीरों में शुक्र को जानना चाहिये । अर्थात् यद्यपि वीर्य सम्पूर्ण शरीर के रक्त के साथ ही सञ्चरित होता है, परन्तु जब वह अण्डों में आता है, तब वह वहां पर मथा जाकर उस विशेष रूप को धारण करता है । जैसे दूध में घी तो सर्वदा रहता है परन्तु हमें स्पष्ट दीखता नहीं, जब वह मथा जाता है तो उस दूध में से पृथक् होजाता है ॥२१॥

द्वयङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः ॥

१—"गूढश्चेक्षौ रसो यथा" इस पाठान्तर के अनुसार—"जैसे गन्ने में रस छिपा रहता है" यह अर्थ किया जायगा ।

२—वृद्धवाग्भटस्तु—"सप्तमी शुक्रधरा द्वयङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्तयति । इत्याह" । अर्थात् सकल शरीर में व्यापक होती हुई शुक्रधरा कला वस्तिद्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण की ओर तथा मूत्र मार्ग (Prostatic Urethra) में आश्रित हुई २ शुक्र को प्रवृत्त करती है ।

गणनाथसेनस्तु प्रत्यक्षशारीरस्योपोद्घाते "द्वयङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे" इत्यत्र "द्वयङ्गुले दक्षिणे वामे" इत्येव साधीयान् पाठः, अन्यथा प्रत्यक्षविरोधात् स्वोक्तिविरोधाच्च । श्रूयते हि 'शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे शुक्रविसर्गाय च' इति सुश्रुत एव । इत्याह ।

मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥ २२ ॥

वस्ति (मूत्राशय) द्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण की ओर स्थित शुक्रधरा कला मूत्र मार्ग से पुरुष के वीर्य का क्षरण करती है ॥२२॥

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ॥
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् संप्रवर्तते ॥ २३ ॥

तथा प्रसन्न मन पुरुष जब स्त्रीप्रसंग करता है, उस समय ध्वज-हर्ष (erection) के अनन्तर सम्पूर्ण शरीर में आश्रित शुक्र-वीर्य का क्षरण होता है ॥२३॥

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते; शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद्गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति ॥ २४ ॥

गर्भिणी स्त्रियों में उनके आर्त्तव वह (रक्त को प्रवृत्त करने वाले) स्रोतों के मार्ग गर्भ द्वारा बन्द हो जाते हैं और यही कारण है कि गर्भिणी स्त्रियों में ऋतुस्राव नहीं होता। जब इस प्रकार आर्त्तव मार्ग रुक जाते हैं, तब वह रक्त लौट कर ऊपर ही दूसरे रूप में उपचित होने लगता है और उसे अपरा (Placenta) कहते हैं। और शेष रक्त और ऊपर आकार स्तनों में आजाता है। यही कारण है कि गर्भिणी स्त्रियों के स्तन मोटे और उन्नत (ऊंचे उठे हुए) होजाते हैं। यह लक्षण दूसरे या तीसरे महीने में स्पष्ट दिखाई देता है ॥२४॥

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुफ्फुसः,

---

१ हाराणचन्द्रेण तु यकृदादीनां स्थानादि निर्देशोऽपि कृतः—तद्यथा—"यकृदिदं दक्षिणे भागे नवमपर्शुकावधि स्वैरङ्गुलैश्चतुर्दशाङ्गुलमायामेनाष्टाङ्गुलं चतुरङ्गुलञ्चोत्सेधेनोपलभ्यते।"

"प्लीहा चाष्टमपर्शुकां यावदधिष्ठितः षडङ्गुलश्चतुरङ्गुलविस्तारः, सार्द्धाङ्गुलोत्सेधश्च"

२ 'उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः' इति शार्ङ्गधरः।

"फुप्फुसो नाम प्रायेण कण्ठप्रदेशादारभ्य षष्ठीं सप्तमीं वा पर्शुकामवधीकृत्य लम्बमानः समन्तात्, सप्तमपर्शुकासमदेशवर्त्तिनं कुक्षिवक्षोविभाजिनन्तदपवारणपटं (Diaphragm) स्पृष्ट्वेव विस्तारेण प्रायः सर्वमुरो व्याप्यावतिष्ठते। स चाधस्तात् कोविदारपत्रवद् द्वेधा विभज्यते। विभक्तस्य च तस्य दक्षिणो भागो वामात् विशालः किञ्चित् पुरःसरश्च,

शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ॥ २५ ॥

गर्भ के यकृत् (जिगर) और प्लीहा (तिल्ली) रक्त से पैदा होते हैं। फुप्फुस (फेफड़े), रुधिर के फेन से उत्पन्न होते हैं। रुधिर के मल से उण्डुक बनता है ॥२५॥

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः ।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति ॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं बस्तिश्च देहिनः ॥२६॥

रुधिर और कफ का जो सारतम भाग होता है, वह जब शरीर में पित्त (कायाग्नि) द्वारा पकाया जाता है, उस समय पीछे २ वायु भी आकर अपना कार्य करता है, जिससे आंतें (Intestines), गुदा (Rectum) और बस्ति (मूत्राशय, Bladder) का निर्माण होता है ॥२६॥

उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत् ।
कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ॥ २७ ॥

उदर में पकाये जाते हुए कफ, रुधिर और मांस का सारभाग ही जिह्वा होती है, जैसे सुवर्ण को अग्नि पर रख धौंकने से उसका सारभाग बच जाता है। अभिप्राय यह है कि जिह्वा कफ, रक्त और मांस के सारभाग से पैदा होती है ॥२७॥

यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् ।
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा ॥२८॥

समुचित रूपेण ऊष्मा (गर्मी, अग्नि) से युक्त हुआ २ वायु यथा प्रयोजन स्रोतों को विदीर्ण करता है। यही वायु मांस में अनुप्रविष्ट होकर उसे पेशी रूप (Muscles) में विभक्त कर देता है ॥२८॥

वामस्तु दक्षिणादायतः किंचित् पृष्ठानुसारी च ।"

१ "उण्डुकस्तु स्थूलक्षुद्रान्त्रयोराद्यन्तसीमासन्निविष्टो मूलोद्गमप्रतिबन्धिनाऽनुलोमसन्निविष्टेन कपाटद्वितयेनानुविद्धः पार्श्वोद्गतयैकद्वारया प्रायः षडङ्गुलिमितयाऽननुभूतक्रियया नाड्या (Appendix) समेतः पुरीषविभाजको गोलो यन्त्रभेदः ।"

२ 'तत्रास्य मथ्यमानस्य ध्मायमानस्य रुक्मवत् । जिह्वा संजायते सौभी यया वेदयते रसान्' इति पा० ।

मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात्[1] ॥ २९ ॥
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः ॥
आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम्[2] ॥ ३० ॥

शिरा ही मेदा (चर्बी) के स्नेह से युक्त होने पर स्नायु (Ligament) का रूप धारण कर लेती है। शिरा और स्नायु की उत्पत्ति में भेद इतना ही है कि मृदुपाक से शिरा बनती है और खर पाक से स्नायु बनते हैं। वायु वारंवार आशय के अनुरूप होकर उस २ आशय को उत्पन्न करता है॥

जैसे गर्भावस्था के पश्चात् नवजात शिशु में चौथे और दसवें दिन के बीच में धमनी संयोजक (Ductus Arteriosus) पूर्ण रूप से बन्द होकर ठोस होजाता है और धमनी बन्धन (Ligamentum Arteriosum) का रूप धारण कर लेता है। इसके द्वारा फुप्फुसीया धमनी महाधमनी से मिली रहती है।

---

१ सिरास्नायुत्वमाप्नुयादिति सिराः स्नायूंश्च वायुः कुर्यादित्यर्थ इति डल्हणः। अर्थात् मेदा की चिकनाई को लेकर वायु सिरा और स्नायु बनाती है॥

हरिप्रपन्नशर्मणा तु"भेदः स स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमप्यथ" इति पाठः स्वीकृतः। व्याख्यातश्च तेनैव—"स वायुः कर्ता, अन्नरसात् स्नेहमादाय मेदो विभजते अर्थादुदरे मेदश्चिनोति, अथ एवं सिरास्नायुत्वं विभजते अर्थात् सिरात्वं सिरास्वरूपं स्नायुत्वं स्नायुस्वरूपं च विभजते। ननु समवायिकारणस्यैकत्वेऽपि कथमेतद्वैचित्र्यं संजायत इत्याह सिराणां तु मृदुः पाक इत्यादि अत्र मृदुः पाको निरन्तररससम्भृतत्वात्; स्नायूनां च पेशीप्रान्तानां खरः पाको भवति अल्परसगमनात्।

परन्तु " मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात् " इत्यस्याभिप्रायमजानतैव पण्डित हरिप्रपन्नशर्मणा नवीनः पाठ उद्भावितः। मूलपाठस्वीकारे लेशतोऽपि न जायते विप्रतिपत्तिः, यतो हि दृश्यन्ते सिराः धमन्यो वा कालप्रकर्षात् स्नायुस्वरूपं धारयन्त्यः। स्नायुशब्देन च पेशीप्रन्तानां ग्रहणं न कर्तव्यमपि तु आधुनिकाः शारीराभिज्ञाः यं लिगामैण्ट (Ligament) इति नाम्ना व्यवहरन्ति स एवात्र स्नायुपदवाच्यस्तथाहि नवजाते हि शिशावाप्रसवात् पञ्चमं दशमं वा दिनं यावत् धमनीसंयोजकः नाभिशिरा नाभिधमन्यौ वा स्नायुरूपेण विपरिणमन्त्यौ दृश्येते।

२ स वायुः मांसपेशीषु आशय्य आसमन्तात् निवासं कृत्वा हृदयाद्याशयानां संभवमुत्पत्तिं करोति।

इसी प्रकार दूसरे और पांचवें दिनों के बीच में नाभिशिरा (Umbilical vein) बन्द और अप्रवेश्य होजाती है। यह गोल रज्जु के समान होजाती है। यह यकृत् से नाभि तक लगी रहती है। यही यकृत् का गोल बन्धन है।

इसी प्रकार नाभि धमनियां (Umbilical Arteries) दूसरे और पांचवें दिनों के बीच में सूख कर रज्जु के समान होजाती हैं और उनमें रक्त नहीं रहता। अब इनका नाम नाभिबन्धन (Umbilical Ligament) होजाता है।

अर्थात् ये शिराओं से ही स्नायु बनजाने के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ॥२९॥३०

रक्तमेदः प्रसादाद् वृक्कौ; मांसासृक्कफमेदः प्रसादाद् वृषणौ; शोणितकफप्रसादजं हृदयं[1], यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः; तस्याधो[2] वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम[3] च; तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तास्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति ॥३१॥

रक्त और मेद (चर्बी) के प्रसाद से दोनों वृक्कों (गुर्दे) की उत्पत्ति होती है। मांस, रक्त, कफ और मेदा (चर्बी) के प्रसाद से दोनों वृषणों (अण्डों) की उत्पत्ति होती है। रुधिर और कफ के प्रसाद से हृदय—जो कि प्राणवहा धमनियों का आश्रय है—बनता है। उसके नीचे वामपार्श्व में प्लीहा (तिल्ली) और फुप्फुस स्थित हैं। वस्तुतस्तु फुप्फुस (Lungs) सम्पूर्ण उरोदेश में व्यापक हैं। यहां पर लेखक के प्रमादवश ऐसा लिखा गया प्रतीत होता है। हृदय के नीचे दक्षिण पार्श्व में यकृत् (जिगर) और क्लोम स्थित हैं।

---

१ हृदयं हि दक्षिणतस्तृतीयपर्शुकावबन्धात् वामं स्तनं द्व्यङ्गुलतो हित्वा षष्ठपर्शुकासन्निधाववतिष्ठते।

२ 'तस्य वामतः' इति पा०।

३ प्रत्यक्षशारीरे गणनाथसेनः—"यत्तु 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुस्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च' इति सौश्रुतः पाठः तत्र प्रमाद एव दरीदृश्यते. 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा. दक्षिणतो यकृत् उभयतः क्लोम फुस्फुसौ च' इति तु साधीयान् पाठः, अन्यथा न केनापि कथमपि शक्यं समाधातुम्। क्लोम श्वासनलिका Trachea इति"। 'गॉल ब्लॅडर Gall-Bladder, इति रसयोगसागरस्योपोद्घाते (पृ० ९६-१०२) वै० पं० हरिप्रपन्नशर्मा। विस्तरस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः।

क्लोम शब्द स Pancreas नामक ग्रन्थि का ग्रहण करने वाले व्याख्याता इसका समाधान इस प्रकार करते हैं:—क्लोम यद्यपि आमाशय के नीचे वामपार्श्व में है परन्तु उसका मुख दक्षिण पार्श्व में आकर ही खुलता है। जैसा कि सुश्रुतार्थसन्दीपनभाष्यकार ने कहा भी है:—

'आमाशयादधस्ताच्च ग्रहण्या उपरिस्थितात् ।
पित्तपातस्थानबद्धमुखात् प्लीहावधिस्थितात् ॥
क्लोम्नो विनिःसृतेनाथ सञ्चारेण रसेन च ।
भिद्यतेऽन्नमनिर्भिन्नं यदामाशयशक्तितः ॥

तथा च—

अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति ।
जलवाहि सिरामूलं तृष्णास्थानं मतं बुधैः ॥

परन्तु कई व्याख्याता क्लोम शब्द से Trachea अथवा Pharynx का ग्रहण करते हैं, उनके मत में यह भी प्रमाद पाठ ही है । पं० हरिप्रपन्न शर्मा ने क्लोम शब्द से पित्ताशय का ग्रहण किया है ।

वह हृदय विशेषतः चेतना का स्थान है । अतएव इसके तम द्वारा आच्छादित हो जाने पर सम्पूर्ण प्राणी सो जाते हैं ॥ ३१ ॥

भवति चात्र ।

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ॥
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥ ३२ ॥

हृदय का स्वरूप—हृदय की आकृति बन्द हुए २ अधो मुख कमल के समान होती है । अर्थात् कमलपुष्प मुकुलित होकर एक पार्श्व की ओर झुक जाने पर जिस आकृति को धारण करता है तत्सदृश ही हृदय की आकृति होती हैं । हृदय का अपना स्वरूप उस मुकुलित एवं अधोमुख कमल के समान होता है और फूलकी डण्डी महाधमनी (Aorta) के स्वरूप को दर्शाती है। अतएव इसकी उपमा अधोमुख कमल से दी गई है । यह हृदय जाग्रतावस्था में विकसित रहता है और सोये हुए पुरुष में संकुचित होजाता है ।

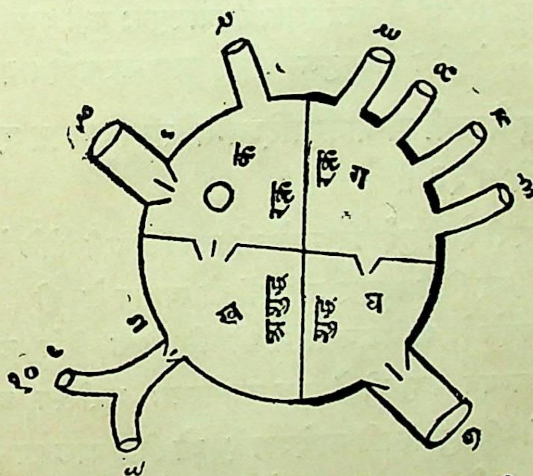
इससे यह न समझना चाहिये कि यह हृदय कमलपुष्पवत् खिलजाता और बन्द होजाता है, परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि जागते

हुए पुरुष में स्वभावतः चलने फिरनें आदि द्वारा हृदय तीव्र शक्ति और तीव्रगति से चलता है । और निश्चेष्ट होने के कारण सोये हुए पुरुष की हृद्-गति मन्द होजाया करती है । जैसे ब्रॉडबेन्ट (Broadbent) ने कहा भी है-Position influences frequency, there being on an average a difference of eight beats per minute between the standing and recumbent position."

हृदय के स्वरूप और कार्य को संक्षेप में हम निम्नलिखित श्लोकों से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं—

चतुःप्रकोष्ठं हृदयं वामदक्षिणभागतः ।
तेषां द्वौ दक्षिणौ कोष्ठौ गृहीत्वाऽशुद्धशोणितम् ॥
मनाक्संशोध्य विसृजेत् सिरया फुप्फुसेऽनिशम् ।
तत्र शुद्धं व्रजेत् कोष्ठौ वामौ च तदनन्तरम् ।
तस्मात्सृतं शरीरं च जीवयेद् बृंहयेच्च तत् ॥

हृद्गत रक्तसंवहन क्रिया को हम निम्न चित्रित चित्र से समझ सकते हैं ।



हृद्गत रक्त सवहन को दर्शाने के लिये काल्पनिक चित्र ।

इस चित्र में हृदय के चार कोष्ठ (क, ख, ग, घ) दिखाये गये हैं ।

'क' कोष्ठ में '१' ऊर्ध्वगा महाशिरा और '२' अधोगा महाशिरा से अशुद्ध रक्त प्रविष्ट होता है। "१" शिरा अधः शरीर के अशुद्ध रक्त को लाती है और "२" शिरा ऊर्ध्वजत्रुगत अशुद्ध रक्त को लाती है। "क" कोष्ठ जब अशुद्ध रक्त से भरजाता है तो "क" और "ख" के बीच कपाटी (Valve) या दरवाजा खुल जाता है और यह अशुद्ध रक्त "ख" में चला जाता है। यहां से एक '८' फुप्फसीया धमनी (अशुद्ध रक्त का वहन करने वाली) निकलती है। यह धमनी पुनः दो शाखाओं "९" "१०" में विभक्त हो जाती है। एक शाखा दक्षिण फुप्फुस और एक शाखा वाम फुप्फुस में चली जाती है। वहां ये धमनियां शाखा प्रशाखाओं में फैलजाती हैं। यहां पर विष्णुपदामृत (Oxygen) के संसर्ग द्वारा रासायनिक क्रिया होकर रक्त शुद्ध होजाता है। यह शुद्ध हुआ २ रक्त दोनों ओर की दो २ शिराओं अर्थात् चार फुप्फुसीयां शिराओं '३' '४' '५' '६' (शुद्ध रक्त का वहन करने वाली) द्वारा होता हुआ 'ग' कोष्ठ में आजाता है। यहां से पुनः 'ग' 'घ' कोष्ठों के मध्यस्थित कपाटी के खुलने से 'घ' में चला जाता है और पुनः बड़ी धमनी (Aorta) द्वारा शरीर में संचरित होता हुआ पोषण कार्य करता है ॥३२॥

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति ॥ ३३ ॥

वैष्णवी होती हुई निद्रा को भी पाप (तामसी होने से) शब्द से कहा गया है। यह निद्रा सम्पूर्ण प्राणियों को स्वभाव से ही हुआ करती है। वैष्णवी कहने से अभिप्राय शरीर की स्थिति के लिये उपयोगी होने से है। जैसा अन्यत्र कहा भी है 'त्रय उपस्तम्भाः शरीरस्य, आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति'। 'विष्णु' स्थिति का देवता है। जो निद्रा काल स्वभाव से उत्पन्न होती है और शरीर का पोषण करने वाली है, उस का नाम वैष्णवी और मृत्युकालीन तमोभवा निद्रा का नाम पाप्मा है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने सात प्रकार की निद्रा का वर्णन करते हुए कहा भी है—

कालस्वभावामयचित्तदेहखेदैः कफागन्तुतमोभवा च।
निद्रा बिभर्त्ति प्रथमा शरीरं पाप्मान्तगा व्याधिनिमित्तमन्याः ॥ ३३ ॥

तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते, तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले; तमोभूयिष्ठाना-महःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्ध-रात्रे; क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति । ३४॥

जब हृदयस्थित संज्ञावह स्रोता में तमोबहुल कफ पहुंच जाता है, तब तामसी निद्रा होती है । वह निद्रा प्रलयकाल में होती है, प्राणी संज्ञा रहित होता है और पुनः जागरण नहीं होता । जो पुरुष तमः प्रधान होते हैं, उन्हें दिन और रात दोनों समय निद्रा आती है । रजः प्रधान पुरुषों को अल्प काल तथा क्षणभंगुर ही निद्रा होती है । सत्त्व-प्रधान पुरुषों को आधी रात के समय निद्रा होती है। जिन में कफ क्षीण होगया हो, वायु की बहुलता हो या कोई मानसिक एवं शारीरिक कष्ट हो तो अनिद्रा होती है । इसका नाम वैकारिकी है । इस से यह ज्ञात होता है कि पुरुष को किसी प्रकार का कष्ट विकार या रोग है ॥३४॥

भवन्ति चात्र ।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ॥
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥३५॥

हे सुश्रुत ! प्राणियों में चेतना का स्थान हृदय है । जब वह तम द्वारा आच्छादित होता है, तो उन्हें निद्रा आजाती है ॥ ३५ ॥

निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ॥
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥३६॥

निद्रा का कारण तम और जागरण का कारण सत्त्व बताया जाता है । अथवा चूंकि सात्त्विक पुरुषों को भी निद्रा आती है अतः प्रधान कारण स्वभाव ही कहा जाता है । अन्यथा सात्विक पुरुषों को निद्रा आनी ही न चाहिये ॥ ३६ ॥

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः ॥
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥३७॥

१ 'संभवति' इति पा० ।

सोये हुए पुरुष का स्वामी भूतात्मा रजोयुक्त मन के साथ सम्बद्ध होकर पूर्वदेह में अनुभव किये हुए शुभाशुभ विषयों का (स्वप्न में) ग्रहण करता है ॥ ३७ ॥

करणानां तु वैकल्ये[1] तमसाऽभिप्रवर्धिते ॥
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥३८॥

तम द्वारा इन्द्रियों की विकलता के बढ जाने पर न सोने वाला भूतात्मा भी सोये हुए के सदृश ही कहा जाता है ॥ ३८ ॥

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपन[2]मप्रतिषिद्धम्। रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम्। विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम; तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्यायशिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि[3] भवन्ति; रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति ॥३९॥

ग्रीष्मे[4] ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है। निषिद्ध ऋतुओं में भी बच्चे, बूढ़े, स्त्री, कृश, क्षतक्षीण, नित्य शराब पीने वाले, गाड़ी, घोड़े आदि की सवारी अथवा चलने फिरने के कारण थके हुए, जिन्होंने भोजन नहीं किया तथा जिन में मेदा (चर्बी), स्वेद (पसीना) कफ, रस एवं रक्त क्षीण होगया हो और अजीर्ण-पीड़ितों को दिन में थोड़ा सोना निषिद्ध नहीं है। जो रात में जागे हों वे भी जागे रहने के काल से आधा काल दिन में सो सकते हैं।

दिन में सोना विकृति (Unnatural) है। दिन में सोने से अधर्म और सब दोषों (वात, पित्त,कफ) का प्रकोप होता है, जिस से कास,

---

१ 'वैगुण्ये' इति पा०।

२ 'स्वपनमप्रतिषिद्धं' इति पा०।

३ 'गौरवज्वराग्निदौर्बल्यानि' इति पा०।

४ रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा। अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः। दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः ॥

(खांसी), श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), शिर का भारीपन, अङ्गमर्द (अंगों में दर्द होना), अरुचि, ज्वर और मन्दाग्नि होजाता है । रात्रि को जागने से भी यही उपद्रव होते हैं, परन्तु वे वातिक और पैत्तिक होते हैं ॥ ३९ ॥

भवन्ति चात्र ।

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत् ॥४०॥

इस लिए रात को जागना और दिन में सोना निषिद्ध है । बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि इन दोनों बातों को दोषकर जानते हुए उचित मात्रा में नींद करे ॥ ४० ॥

अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः ॥
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम् ॥४१॥

इस प्रकार उचित मात्रा में नींद करने वाला पुरुष नीरोग, प्रसन्न-मन, बल वर्ण युक्त, वीर्यवान्, न बहुत मोटा, न बहुत पतला अर्थात् सम शरीर वाला, लक्ष्मी तथा शोभायुक्त रहता हुआ सौ बरस तक जीता है ॥ ४१ ॥

निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा ॥
(दिवारात्रौ[1] च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः ।)
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते ॥ ४२ ॥

जिन्होंने दिन अथवा रात में निद्रा को सात्म्य कर लिया है, उनको सोने से अथवा जागने से कोई दोष नहीं होता। अभिप्राय यह है कि यद्यपि दिन में सोना या रात को जागना स्वभावतः असात्म्य हुआ करता है, परन्तु क्रमशः अभ्यास से जिन्हें ये सात्म्य या अनुकूल होगये हैं, उन्हें (सात्म्य होने पर) तज्जन्य विकार नहीं होते ॥ ४२ ॥

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि ॥
संभवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति ॥ ४३ ॥

निद्रानाश के कारण—वात, पित्त, मानसिक दुःख, क्षय तथा अभि-

---

१ अयमर्धश्लोकः केषुचित्पुस्तकेषु नोपलभ्यते ।

घात-चोट या व्रण आदि के कारण निद्रा का नाश हुआ करता है।

चिकित्सा-इन कारणों के विपरीत चिकित्सा द्वारा निद्रानाश (Insomnia) का नाश होता है ॥ ४३ ॥

निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम् ॥
गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च ॥ ४४ ॥

निद्र नाश में शरीर पर तैलमर्दन, सिर पर तैल लगाना, शरीर पर उबटना मलना तथा सवांहन (मुठ्ठी चापी करना) हितकर है ॥४४॥

शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः ॥
भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ ४५ ॥
रसैर्विलेशयानां च विष्किराणां तथैव च ।
द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि ॥४६॥

गुड, खांड आदि द्वारा संस्कृत शालि चावल, गेहूं तथा पीठी आदि के भक्ष्य पदार्थों का सेवन करना चाहिये। भोजन मधुर तथा स्निग्ध (घी आदि से युक्त) होना चाहिये। दूध, मांसरस विशेषतः बिलेशय (बिलों में रहने वाले) पशुओं तथा विष्किर (बखेर कर खाने वाले) पक्षियों के मांस का रस(soup) इस में हितकर होता है। रात्रिसमय द्राक्षा (अंगूर, मुनक्का, किशमिश), खांड तथा ऊख से बने अन्य द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च ॥
निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान् ॥ ४७ ॥

बिछौना, आसन तथा सवारियां आदि सुन्दर एवं मृदु-कोमल होनी चाहियें। इनके अतिरिक्त बुद्धिमान् पुरुष को अन्य अन्य उपाय भी जो कि निद्रानाश को नष्ट करने में सहायक हों (जैसे श्रम आदि) कराने चाहियें ॥४७॥

निद्रातियोगे वमनं हितं संशोधनानि च ॥
लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ॥४८॥

१ संवाहनं मृदु मर्दनम् ।
२ अन्यान्यपीति प्रावारादीनि इति डल्हणः ।
३ 'वमेन्निद्रातियोगे तु कुर्यात्' इति पा०

अतिनिद्रा की चिकित्सा—यदि अत्यन्त नींद आती हो तो वमन तथा विरेचन आदि द्वारा संशोधन कराना हितकर है। लङ्घन (उपवास) रक्तमोक्षण (Bloodletting) तथा मन को व्याकुल करने से भी नींद को कम किया जासकता है ॥४८॥

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम् ॥
दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काजीर्णातिसारिणाम् ॥४९॥

रात्रिजागरण तथा दिवास्वप्न किन के लिये हितकर है? कफ, मेद (चर्बी) तथा विष से पीड़ित पुरुषों के लिये रात्रिजागरण (रात को जागना) अच्छा है और तृषा (प्यास), शूल, हिक्का (हिचकी), अजीर्ण (Indigestion) तथा अतीसार (Diarrhaea) आदि से पीड़ित रोगियों को दिन में सोना हितकर है ॥४९॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।
निद्रार्तस्येव यस्येहा[1] तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ ५० ॥

तन्द्रा का लक्षण:—इन्द्रिय-विषय अर्थात् शब्द आदि का ज्ञान न होना, भारीपन, जृम्भा (जम्भाई), क्लान्ति (थकावट) आदि लक्षण हों तथा जिस पुरुष की चेष्टायें नींद से सताये की तरह हों उसे 'तन्द्रा है' ऐसा जानना चाहिये ॥५०॥

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः ॥
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः[2] ॥५१॥

जृम्भा का लक्षण—वायु के एक उच्छ्वास को पीकर (लेकर) शिर को पीछे करके, मुंह फैलाकर, आंखों से पानी के साथ जो निश्वास बाहर फेंकता है; उसे जृम्भा (जम्भाई) कहते हैं ॥५१॥

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः ॥
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥५२॥

क्लम का लक्षण—जो अनायास (किसी प्रकार के प्रयत्न के विना)

---

१ यस्यैते' इति पा०

२ अत्र जृम्भाप्रसङ्गेन केचिच्छिक्का लक्षणं पठन्ति, तद्यथा-प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथि स्थितौ । नस्तः प्रवर्तते शब्दः क्षवथुं तं विनिर्दिशेत् ॥

ही, दम चढ़ने के बिनां तथा इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण में बाधक जो शरीर में बढ़ी हुई थकावट है, उसे ही क्रम कहते हैं ॥५२॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता ॥
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते ॥५३॥

आलस्य का लक्षण—सुखस्पर्श अर्थात् कोमल वस्तु आदि के स्पर्श का इच्छुक, दुःख से घबराने वाला, जिस कार्य में अल्प सा भी कष्ट होता हो उस में प्रयत्न न करना और समर्थ होते हुए भी काम करने में उत्साह न होना ही आलस्य कहाता है ॥५३॥

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्[1] ॥
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥५४॥

उत्क्लेश का लक्षण—जब लाला तथा थूक से प्रेरित हुआ २ अन्न बहिर्मुख होकर भी बाहिर न निकले तथा साथ ही हृदयस्थल पर पीड़ा हो, उसे उत्क्लेश (जी मचलाना) जानना चाहिये ॥५४॥

वक्त्रे मधुरता तन्द्रा योद्वेष्टनं भ्रमः ॥
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥५५॥

ग्लानि का लक्षण—मुंह का स्वाद मीठा २ हो, तन्द्रा, हृदय में वेदना, भ्रम (चक्कर आना, Giddiness), अन्न में अरुचि हो तो ग्लानि जाननी चाहिये ॥५५॥

आर्द्रचर्मावनद्धं वा (हि) यो गात्रमभिमन्यते[2] ॥
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ ५६ ॥

गौरव का लक्षण—जो शरीर को गीले चमड़े से बंधे हुए की तरह समझे तथा शिर अत्यन्त भारी हो, उसे गौरव (भारीपन) समझना चाहिये ॥५६॥

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया, रजःपित्तानिलाद्भ्रमः ॥
तमोवातकफात्तन्द्रा, निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥५७॥

मूर्च्छा; पित्त और तमःप्रधान होती है, भ्रम (चक्कर आना); रज,

---

१ 'प्राणकोष्ठानिलेरितम्' इति पा० ।
२ 'गात्रं मन्यते नरः' इति पा० ।

पित्त और वायु से होता है, तन्द्रा; तम, वात और कफ से एवं निद्रा; कफ और तम से होती है ॥५७॥

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता[1] च परिवृद्धिर्भवति ॥५८॥

गर्भ की वृद्धि रस (माता के आहार रस अथवा लसीका) से और वायु द्वारा धौंके जाने के कारण होती है ॥५८॥

भवन्ति चात्र ।

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम् ॥
तदाधमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥५९॥

गर्भ की नाभि के मध्य में निश्चय से ज्योतिस्थान (अग्निस्थान) होता है, इस जगह उस अग्निको दीप्त करने के लिये वायु आधमन (धौंकना) करती रहती है, जिससे उस गर्भ का शरीर वृद्धि को प्राप्त होता है ॥५९॥

ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः ॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा ॥६०॥

उष्मा (गर्मी) के साथ २ वायु ऊपर, नीचे तथा इधर उधर यथावस्थित रूप में स्रोतों का निर्माण करता है, उन्हें फैलाता है ॥६०॥

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन[2] ॥
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥६१॥

दृष्टि और लोमकूप कभी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते, ये मनुष्यों में उतने ही रहते हैं, जितने उत्पत्तिकाल में होते हैं । यह धन्वन्तरि भगवान् का मत है ॥६१॥

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा ॥
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥६२॥

शरीर के क्षीण होने पर भी नख और केश (वाल) दोनों सदा बढ़ते ही रहते हैं । इसका कारण स्वभाव ही बताया जासकता है ॥६२॥

---

१ मारुताध्माननिमित्ता चेति मारुतेन वायुना आध्मानं स्रोतसां पूरणं तदेव निमित्तं यस्यां सा ।

२ 'कथं च न' इति पा० ।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः समस्तैश्च ।।६३।।

शरीर की प्रकृतियां सात होती हैं, जैसे-१ वात-प्रकृति २-पित्त-प्रकृति ३-कफ-प्रकृति ४-वातपित्त-प्रकृति ५ पित्तकफ-प्रकृति ६-वातकफ-प्रकृति ७-वातपित्तकफ (सम) प्रकृति ।।६३।।

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ।।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ।।६४।।

शुक्र और शोणित अर्थात् शुक्रकीट (Spermatozoa) और डिम्ब (Ovum) के संयोग के समय जो दोष (वात, पित्त, कफ) प्रबल होता है, उससे ही पुरुष की प्रकृति बनती है। उसके लक्षण निम्न प्रकार होते हैं ।।६४।।

तत्र यः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गान्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽतिरूक्षश्मश्रुनखकेशः[1] क्रोधी[2] दन्तनखखादी च भवति ।।६५।।

वात-प्रकृतिः—इन तीनों प्रकृतियों में से वात-प्रकृति वाला पुरुष जागने वाला, शीत से द्वेष करने वाला (अर्थात् जिसे शीत या ठण्ड अच्छी न लगती हो), दुर्भाग्य युक्त, चोरी की आदत वाला, मत्सरी (प्रमाद करने वाला), अनार्य, गाने बजाने में जिसका चित्त लगा रहता हो, जिसके हाथ पैर फटे रहते हों, श्मश्रु (दाढी मूंछ) नख और केश अत्यन्त रूक्ष (रूखे) हों, क्रोधी तथा दांत नख खाने वाला अर्थात् दांतों को आपस में कटकटाने वाला और नाखूनों को दांतों से काटते रहने वाला होता है ।।६५।।

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः
कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी ।।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा

---

१ 'अल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः' इति पा० ।

२ क्राथीति पाठान्तरे हिंसाशीलः ।

वियंति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥६६॥

धैर्यरहित जिसकी मैत्री दृढ़ न होती हो, कृतघ्न, कृश (पतला), कठिन अथवा खुरदरा (रूक्षता के कारण), जिस के शरीर पर नीलवर्ण की शिरायें उभरी हुई दीखती हों, प्रलाप करने वाला, तेजी से चलने फिरने वाला, शीघ्रभाषी, अस्थिर मन वाला होता है । इस प्रकृति वाले मनुष्य को सोये हुए भी आकाश में चक्कर काटते हुए उड़ने के स्वप्न आया करते हैं ॥ ६६ ॥

अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टि-
र्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः ॥
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं
मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः ॥६७॥

अस्थिर-मति तथा चञ्चल दृष्टि वाला, जिसके पास रत्न, धन एवं मित्र अत्यन्त अल्प हों और जो असम्बद्ध ही कुछ बोलता हो, उस पुरुष को वातप्रकृति वाला जानना चाहिये ॥ ६७ ॥

वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा ॥
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥६८॥

वातिक मनुष्यों का शील-स्वभाव बकरी, गीदड़, शशक (खरगोश), चूहा, ऊंट, कुत्ता, गिद्ध, कौआ तथा गदहे आदि के समान कहा गया है ॥ ६८ ॥

स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणि-पादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोप-प्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च भवति ॥६९॥

पित्त-प्रकृति—जिसे पसीना बहुत आता हो, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, जिसके अङ्ग पीले और शिथिल (ढीले) हों, नाखून, आंख, तालु, जीभ, ओष्ठ और हाथ पैर की तलियां ताम्र अर्थात् लाल वर्ण की हों, दुर्भाग्य युक्त, जिसके शरीर पर झुर्रियां पड़ जांय, बाल श्वेत या भूरे हों, गञ्जा, बहुत खाने वाला, गरमी से द्वेष करने वाला, जो जल्दी ही गुस्सा और

१ 'वियदपि' इति पा ।
२ 'मारुतप्रकृतिरस्थिरसत्त्वः' इति पा० ।

शीघ्र ही प्रसन्न होजाता हो, मध्यम बल तथा मध्यम आयु वाला मनुष्य पित्त-प्रकृति वाला होता है ॥ ६९ ॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः ॥
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥७०॥

मेधावी (बुद्धिमान्), प्रतिभासम्पन्न, युक्ति पूर्वक सोच विचार कर बोलने वाला, तेजस्वी, सभा समितियों में बड़ा कठिनता से जीता जाने वाला (अर्थात् पित्तप्रकृति वाला सभा सोसाइटियों में ऐसा सोच विचार कर अपने पक्ष का स्थापन और मण्डन करता है कि प्रतिवादी उसका खण्डन या प्रत्युत्तर कठिनता से दे सकता है), होता है। इस प्रकृति वाला मनुष्य सोये हुए स्वप्न में सुवर्ण, पलाश (टेसू), कनेर, अग्नि, बिजली और उल्कापात आदि को देखता है। अर्थात् पित्त प्रकृति वाले पुरुष को आग्नेय द्रव्य एवं वर्ण आदि के स्वप्न आया करते हैं ॥ ७० ॥

न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः ॥
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥७१॥

पित्त-प्रकृति वाला मनुष्य भय दिखाने से झुकता नहीं-दबता नहीं। जो उसके सामने नम्र नहीं होता, उसके लिये वह कठोर होता है और जो नम्र होते हैं, उन्हें वह सान्त्वना देने वाला होता है। इस के मुंह पर सदा फोडे फुन्सियां निकलती रहती हैं, या मुखपाक होता है ॥

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त पुरुष को पित्तप्रकृति वाला जानना चाहिये ॥ ७१ ॥

भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः ॥
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥७२॥

पैत्तिक मनुष्यों का स्वभाव, सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिल्ली, बन्दर, व्याघ्र (Tiger, बघेरा), रीछ, तथा नेवले आदि के समान होता है ॥ ७२ ॥

दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति ॥७३॥

कफ-प्रकृति—कफप्रकृति वाला मनुष्य दूब, कमल तलवार, ताज़े (नीले-हरे) नीम के पत्ते, सरकण्डा; इनमें से किसी एक के वर्ण के समान वर्ण (Comptxion) वाला, सौभाग्यशाली, प्रियदर्शन, जिसे मधुररस बहुत प्यारा हो, कृतज्ञ, धीर, सहिष्णु (सहने वाला) लालच रहित, सन्तोषी, बलवान्, देर से परिचित या मित्र बनने वाला, दृढ़वैर (एक बार वैर होने पर कठिनता से वैर को छोड़ने वाला) होता है ॥ ७३ ॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः ॥
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ॥७४॥

श्वेत या भास्वर आंखों वाला, स्थिर, घुंघुरीले और अत्यन्त काले बालों वाला, लक्ष्मीसम्पन्न, मेघ, मृदङ्ग तथा सिंह के समान गम्भीर ध्वनि वाला, और जो सोये हुए कमल, हंस एवं चक्रवाक (चकवा, चकई) युक्त सुन्दर जलाशयों (तालाब आदि) को देखता है, उसे कफ-प्रकृति वाला जानना चाहिये ॥ ७४ ॥

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः ॥
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥७५॥

जिसके नेत्रों के प्रान्त भाग रक्त हों, शरीर सुडौल हो, स्निग्ध कान्ति वाले, सत्त्व गुण युक्त, क्लेशों को सहन करने वाले और अपने से बड़ों गुरू माता पिता आदि का मान करने वाले मनुष्य को कफ-प्रकृति वाला जानना चाहिये ॥ ७५ ॥

---

१ अरिष्टः कृष्णवर्तुलफलो "रीठा" इति लोके प्रसिद्धः इति डल्हणः ।

दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु ॥
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत्स सदा ॥७६॥

जिसकी शास्त्रों में दृढ़ मति हो, जिसके मित्र और धन स्थिर हों, बहुत देर तक अच्छी प्रकार सोचने विचारने के बाद बहुत देने वाला, एवं अच्छी प्रकार सोचकर निश्चित बात कहने वाला और सदा बड़ों का मान करने वाला मनुष्य कफप्रकृति वाला होता है ॥ ७६ ॥

ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ॥
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥७७॥

कफप्रकृति के मनुष्यों का स्वभाव ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, सिंह, घोड़ा, हाथी, सांड, गरुड और हंस के सदृश होता है ॥ ७७ ॥

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः ॥
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥७८॥

वैद्य, दो अथवा तीनों प्रकृतियों के लक्षणों से युक्त प्रकृति वाले मनुष्य को संसर्गज प्रकृति वाला जाने ॥ ७८ ॥

प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ॥

---

१ कई वातिकाश्चाज० इत्यादि, भुजगोलूक० इत्यादि, दृढशास्त्रमतिः० इत्यादि तथा ब्रह्मेन्द्र० इत्यादि चारों श्लोकों को नहीं पढ़ते ।

२ वान्यभावो वा० इति पा० ।

३ शुक्रशोणितजीवानां संसर्गे यथाभूता वातादयः समा विषमा वा तथाभूतैव प्रकृतिर्यावज्जीवमनुवर्तते रिष्टं विना इति राद्धान्तः आयुर्वेदविदाम् । ननु तत्र यदा समप्रकृतेर्वातप्रकृतेर्वाक्षेपकादिर्वातविकारो भवति तदा वातस्य प्रकृतिभूतस्याधिक्यं भवत्येव, यदा च वातप्रकृतेः पित्तविकारो भवति तदा वातप्रकृतेरन्यथाभावः पित्तप्रकृतित्वं भवति, यदा तु समप्रकृतेरन्यतरदोषक्षयो भवति प्राकृतस्वकर्महानिलक्षणस्तदासौ प्रकृतिक्षयो भवति, यदुक्तं दोषक्षयलक्षणे-''कर्मणः प्रकृतेर्हानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्'' इति । अत्रोच्यते-प्रकृतिसमानरोगोत्पत्तौ न प्रकृतिभूतस्य वृद्धिः, किन्तर्हि हेत्वन्तरजनितस्य वातादेस्तत्र विकारित्वम्, प्रकृतिभूतस्तु दोषस्तत्रोपदर्शको भवति, यदुक्तं ''कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् । निष्प्रत्यनीकं कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः'' । वातप्रकृतेस्तु पित्तविकारोत्पत्तौ वातः प्रकृतिभूतस्तथैव करचरणस्फुटनादिकं कुर्वन्नास्ते, न तस्यागन्तुना पित्तविकारेण किंचित् क्रियते ।

प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥७९॥

स्वभाव से ही प्रकृतियों का कोप, अन्यथाभाव (बदल जाना) या क्षय (कमी, नाश) नहीं होता। केवल जो गतायु (सन्निकृष्ट मृत्यु) पुरुष होता है, उसी में ही कोप आदि होते हैं ॥ ७९ ॥

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ॥
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥८०॥

जिस प्रकार विष से पैदा हुआ २ कीड़ा उस विष से मरता नहीं, उसी प्रकार प्रकृतियां मनुष्य को बहुत हानि नहीं पहुंचा सकतीं, अर्थात् समधातु (सम-वातपित्तकफ) प्रकृति वाले पुरुषों को धातु (वात, पित्त, कफ, शरीर धारक होने से धातु कहाते हैं) कभी हानि नहीं पहुंचा सकते परन्तु जिनकी देह-प्रकृति दोषानुशायी (दोषप्रधान अर्थात् वातल, पित्तल, श्लेष्मल प्रकृति) है, उनमें उन २ उत्कट दोषों को तो बहुत हानि पहुंचानी चाहिये, पर वे अत्याधिक हानि अर्थात् मृत्यु आदि के कारण नहिं होते। इसी बात को समझाने के लिये उपर्युक्त दृष्टान्त दिया गया है। चरक तो इन प्रकृति वालों को सदा रोगी मानता है और इन्हें स्वस्थ रहने के लिये उत्कट दोष से विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन का आदेश देता है। कहा भी है—

समपित्तानिलकफाः केचिद् गर्भादि मानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते॥
विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।
समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते॥

अत एव "शक्नुवन्ति न बाधितुम्" में नञ् ईषदर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अश्ववैद्यक में कहा भी है—

सर्वान् प्राणभृतो हन्ति नूनं तु कायगं विषम्।

वातादीनां तु स्वमानात्क्षयः प्राकृतकर्महानिलक्षणो न शुक्रशोणितसंसर्गकालजस्य प्रकृतिभूतस्य दोषस्य बीजभूतस्य क्षयमावहतीति न प्रकृतिभूतदोषक्षयः। यदि वा, प्रकृतेः प्रकोपान्यथाभावक्षया न भवन्तीति प्रकृतिरवेनेति क्रमः। तेन समप्रकृतिर्वातप्रकृतिर्न भवति वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्न भवति समप्रकृतिर्वा। इति चक्रः॥

अस्मिंश्चापि समुत्पन्ना दृश्यन्ते क्रिमयो यथा ॥
तथाहि विषमो दोषः प्रकृतिर्नातिबाधते ॥८०॥

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः ॥
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥८१॥

कई आचार्य प्रकृतियों को भौतिकी (भूतसम्बन्धिनी) कहते हैं। उनके मत से प्रकृतियां पांच होती हैं। ये वायु, अग्नि, जल पृथिवी, और आकाश पंचमहाभूत-सम्बन्धिनी होती हैं । इन में से जो हमने वात, पित्त, कफ प्रकृति वाले मनुष्यों के लक्षण पूर्व कहे हैं, वही लक्षण वायु, अग्नि और जल प्रकृति वालों के जानने चाहियें। शेष दो में से पार्थिव प्रकृति वाले मनुष्यों का शरीर स्थिर तथा विपुल-विस्तृत (बड़ा) होता है और वे सहनशील होते हैं। आकाश- प्रकृति वाले मनुष्य पवित्र रहने वाले और दीर्घायु होते हैं। इनके छिद्र अथवा स्रोत बड़े होते हैं ॥८१॥

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ॥
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥८२॥

ब्रह्मकाय के लक्षण—पवित्रता, आस्तिकता (परमेश्वर की सत्ता में विश्वास), वेदों का स्वाध्याय करना, गुरुपूजन, अतिथियों का सत्कार करना, और यज्ञ करना; ये ब्रह्मकाय के लक्षण हैं ॥ ८२ ॥

माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता ॥
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥८३॥

माहेन्द्रकाय के लक्षण—माहात्म्य, शूरता, आज्ञा, निरन्तर शास्त्रों का पठन, भृत्यों (नौकर चाकरों) का पालन, ये माहेन्द्रकाय के लक्षण हैं ॥ ८३ ॥

---

१ केचित्तु प्रकृतिस्त्वेकशो द्विशस्त्रिशश्चतुर्भिर्वा भूतैः प्रस्तर्यमाणा बहुधा संजायते इति वदन्ति । यथा "एकैकेन वदन्ति पञ्च, दश तु द्वाभ्यां.त्रिभिस्तावती, भूतैः पञ्च चतुर्भिरेव, भिषजस्त्वेकां समस्तैरपि। एकत्रिंशतमत्र भूमिसलिलश्वाहप्रियस्पर्शनाकाशैश्च प्रकृतीर्गुणैरपि पुनः प्राहुः स्म सप्तापरा ॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता ॥
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥८४॥

वारुणकाय के लक्षण—शीतसेवा (ठण्ड से प्यार), सहिष्णुता (Toleration), पिङ्गलता (शरीर का पिङ्गल-श्वेताधिक पीतवर्ण का होना अथवा आंखों का भूरे से रंग का होना), वालों का कपिल वर्ण का होना, मीठा बोलना; ये लक्षण वरुण सम्बन्धी शरीर में होते हैं ॥ ८४ ॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ ॥
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥८५॥

कौबेरकाय के लक्षण—मध्यस्थता, सहिष्णुता, धन का अधिक परिमाण में आना और संचय करना, अत्यन्त सन्तानोत्पत्ति की शक्ति होना अथवा नये २ आविष्कार करने की शक्ति होना; ये कौबेर शरीर के लक्षण होते हैं ॥ ८५ ॥

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ॥
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥८६॥

गान्धर्वकाय के लक्षण—इत्र फुलेल आदि गन्धों और पुष्प आदि की मालाओं के पहिरने का शौक होना, नाच और बाजे आदि की चाह होना, इधर उधर घूमते फिरते रहना, ये गान्धर्व शरीर के लक्षण हैं ॥ ८६ ॥

प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः ॥
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥८७॥[1]

याम्यकाय के लक्षण--युक्ति युक्त कर्म करने वाला, दृढ उद्यम वाला, निर्भय, तीव्र स्मरण शक्ति वाला, स्वच्छ रहने वाला, तथा राग, मोह, भय एवं द्वेष से रहित मनुष्य को याम्य (यम सम्बन्धी) सत्त्व वाला जानना चाहिये ॥ ८७ ॥

जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम् ॥
ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥८८॥
सप्तैते सात्त्विकाः कायाः

ऋषिकाय के लक्षण-जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम (अग्निहोत्र),

१ 'रागमोहभयद्वेषैर्वर्जितो यमसत्त्ववान्' पा० ।

अध्ययन (स्वाध्याय) का सेवन करनें वाले और ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न पुरुष को ऋषिसत्त्व जानना चाहिये ॥ ८८ ॥

ब्रह्मकाय से लेकर ऋषिकाय पर्यन्त सात काय सात्विक (सत्त्व गुण युक्त) कहलाते हैं ।

राजसांस्तु निबोध मे ॥
ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम् ॥
एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥८९॥

अब राजस कायों का निर्देश करते हैं--

आसुरकाय के लक्षण--ऐश्वर्य (धन-धान्य) युक्त, रौद्र (भयङ्कर, भीषण), शूर, चण्ड (क्रोधयुक्त), असूयक (परनिन्दा करने वाला), अकेला खाने वाला, औदरिक (पेटू, बहुत खाने वाला) मनुष्य आसुर (असुर सम्बन्धी) सत्व वाला होता है ॥ ८९ ॥

तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा ॥
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥९०॥

सर्पसत्व के लक्षण--तीक्ष्ण, परिश्रमी, भीरू (डरपोक), क्रोधी, छल कपट युक्त, विहार और आचार [शील] में चपल मनुष्य को सर्प सत्त्व जानना चाहिये ॥ ९० ॥

प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च ॥
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥९१॥

शाकुनकाय के लक्षण--अत्यन्त कामी, निरन्तर खाते रहने वाला, असहिष्णु, अस्थिर चित्त वाला, ये शाकुनकाय के लक्षण हैं ९१

एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता ॥
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥९२॥

राक्षसकाय के लक्षण--एकान्तपसन्दी, भीषणता, परनिन्दा,

---

१ गयदासस्तु "औदरिकं" इत्यत्र "औपधिकं" इति पठित्वा औपधिकं छद्मपरं इति व्याख्याति ।

२ 'अबद्धकामसेवी' इति पा० ।

३ असूया गुणेषु दोषरोपणम् ।

४ भृशमात्मस्तवश्चापीति पाठान्तरे आत्मस्तवः आत्मस्तुतिः ।

अधर्माचरण, अत्यन्त तमोगुण; ये राक्षस काय के लक्षण हैं ॥ ९२ ॥

उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ॥
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥९३॥

पैशाचकाय के लक्षण—जूठा खाना, तीक्ष्णता, साहस करने वाला, स्त्रीलोलुपता (कामिता), निर्लज्जता; इन लक्षणों से पैशाच काय जाना जाता है ॥ ९३ ॥

असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम् ॥
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥९४॥
षडेते राजसाः कायाः,

प्रेतकाय के लक्षण—असंविभाग (बांट के न खाना), आलसी, दुःखशील, परनिन्दक, लोभी, दान न करने वाले मनुष्य को प्रेतसत्त्व जानना चाहिये ॥ ९४ ॥

उपर्युक्त छः काय राजसकाय कहलाते हैं।

तामसांस्तु निबोध मे ॥
दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ॥
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥९५॥

अब तामस कायों का निर्देश करते हैं:—

पशुकाय के लक्षण—दुष्ट मेधा का होना, मूर्खता, स्वप्न में नित्य मैथुन करना, और दूर करने की इच्छा, ये पशुसम्बन्धी गुण हैं ॥ ९५ ॥

अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता ॥
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥९६॥

मत्स्यसत्त्व के लक्षण—चित्त का अस्थिर होना, मूर्खता, डरपोकपना, सदा जल से प्रेम करना, परस्पर लड़ना झगड़ना, ये मत्स्यसत्त्व के लक्षण हैं ॥ ९६ ॥

एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ॥
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥९७॥

वानस्पत्यसत्त्व के लक्षण—एक ही स्थान पर रहने की इच्छा-

वाला, नित्य केवल आहार में ही लगा रहने वाला, धर्म, अर्थ, काम से रहित मनुष्य वानस्पत्य (वनस्पति-वृक्षसम्बन्धी) सत्त्व वाला होता है ९७

इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा ॥
कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ॥९८॥

ये तीनों प्रकार के काय तामस कहलाते हैं ॥ इन सब कायों की प्रकृति को जान करके यथायोग्य क्रिया (चिकित्सा) करनी चाहिये ९८

महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्वतमःकृताः ॥
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत् ।९९॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

सत्व, रज तथा तमोगुण से बनी हुई इन महाप्रकृतियों का लक्षणों द्वारा यहां वर्णन कर दिया है। वैद्य को चाहिये कि चिकित्सा आदि कर्म के समय इन का भी सम्यक्तया परिज्ञान करले ॥ ९९ ॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनी समाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने चतुर्थोऽध्यायः।

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

गर्भव्याकरण नामक अध्याय के पश्चात् शरीर, संख्या व्याकरण नामक शारीर की व्याख्या करते है। अर्थात् इस अध्याय में शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों की संख्या का वर्णन किया जायगा ॥१॥

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरं' इति

१ 'हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णादिभिः' इति पा०।

संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गम्-शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥२॥

गर्भ—गर्भाशय में स्थित, आत्मा तथा प्रकृति[1] विकृति से युक्त शुक्र (शुक्रोपलक्षित शुक्रकीट, Spermatozoa) और शोणित (शोणितोपलक्षित [illegible] Ovum) को ही गर्भ कहते हैं। उस चेतनाधिष्ठित (आत्माधिष्ठित) गर्भ का वायु[2] विभाग करती है, तेज उसको पकाता है, जल क्लिन्न (गीला) करते हैं, पृथिवी संघात (इकठ्ठा, संगठन) करती है, आकाश बढ़ाता है। इस प्रकार बढ़ता हुआ गर्भ जब हाथ, पांव, जीभ, नाक, कान तथा नितम्ब (चूतड़) आदि अङ्गों से युक्त होजाता है, तब उसकी "शरीर" संज्ञा होती है। इस शरीर को मोटे तौर पर हम छः अङ्गों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे—शाखायें चार (दो हाथ, दो पांव), धड़ पांचवां और छठा सिर ॥ २ ॥

अतः पर प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः, कर्णनेत्र[3]भ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्य[4]माणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥ ३ ॥

इस के पश्चात् प्रत्यङ्ग कहे जाते हैं—मस्तक (माथा), उदर (पेट), पीठ, नाभि, ललाट (सिर), नाक, चिबुक (ठोडी), बस्ति (मूत्राशय तथा वहां का बाह्य प्रदेश), ग्रीवा (गर्दन), ये सब एक २। कान, आंख, भ्रू (भौंह), शंख (कनपटी), अंस (कन्धे), गण्ड (गाल), कक्ष (कांख), स्तन, वृषण (अण्ड), पार्श्व (पासे), स्फिग् (चूतड़), जानु (गोड़े), बाहु, ऊरू (जांघ) आदि दो २, बीस अगुलियां और स्रोत-जिनका वर्णन आगे होगा। यह प्रत्यङ्गों का विभाग कह दिया है ॥ ३ ॥

---

१ प्रकृतयः प्रधानादयोऽष्टौ, विकाराः पञ्चभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडश ।

२ तं वायुर्विभजति दोषधातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन । तेजः पचति रूपाद्रूपान्तरेणावस्थानं प्रापयति। आपः क्लेदयन्ति विभागपरिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्रतां जनयन्ति । पृथिवी संहन्ति अद्भिः क्लिन्नमपि कठिनं मूर्तिमत् करोति। आकाशं विवर्धयति अनिलानलविदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यग्विवर्धितमवकाशदानेन विवर्धयति ।

३ हाराणचन्द्र ने 'कर्णनेत्रनासाभ्रू०' ऐसा पढ़ा है। यहां नासा शब्द से 'नासाछिद्र, अथवा 'नथुने' अर्थ करना चाहिये ।

४ 'वक्ष्यन्ते' इति पा० ।

तस्य पुनः संख्यानं[1]—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि[2] स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

बाह्य अङ्ग प्रत्यङ्गों को तो हम बाहिर से ही देख सकते हैं, परन्तु शरीर के अन्दर के अङ्ग प्रत्यङ्गों को शवच्छेदन के विना नहीं देख सकते। अतः अब उन अङ्ग प्रत्यङ्गों का वर्णन किया जाता है, और इन्हीं का इस अध्याय में वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है। वे इस प्रकार हैं—त्वचायें, कलायें, धातु, मल, दोष, यकृत् (जिगर) प्लीहा (तिल्ली), फुप्फुस (फेफड़े), उण्डुक, हृदय (Heart), आशय, आंते, दो वृक्क (गुर्दे), स्रोत, कण्डरा, जाल, कूर्च, रज्जुएं (रस्सियां), सेवनियां (सीवन), सङ्घात, सीमन्त, अस्थियां (हड्डियां), सन्धियां, स्नायु, मांसपेशियां (Muscles), मर्म, शिरा, धमनियां और योगवह स्रोत ॥ ४ ॥

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे संधिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, [षोडश कण्डराः[3], षोडश जलानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः, चतुर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि[4]] चेति समासः ॥ ५ ॥

सात त्वचायें। सात कलायें। सात आशय। सात धातु । सात सौ शिरायें। पांच सौ मांसपेशियां। नौ सौ स्नायु। तीन सौ हड्डियां। दो सौ

१ 'संख्येयानि' इति पा०।

२ 'योगवाहीनि' इति पा०।

३ अयं पाठो हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते। हाराणचन्द्रपठितत्वादस्माभिः पठितः।

४ द्विकान्यन्त्राणीति सूक्ष्मस्थूलभेदेन।

दस सन्धियां। एक सौ सात मर्म। चौबीस धमनियां। तीन दोष। तीन मल। नौ स्रोत। सोलह कण्डरायें। सोलह जाल। छः कूर्च। चार रज्जु। सात सीवन। चौदह सङ्घात। चौदह सीमन्त। बाईस योगवह स्रोत और दो आंतें। यह संक्षेप से परिगणन किया गया है। शेष जिनकी संख्याओं का इस सन्दर्भ में आचार्य ने निर्देश नहीं किया उनका पूर्व सन्दर्भ में वचन द्वारा निर्देश कर दिया है। जैसे 'उण्डुकः, 'हृदयम्' इत्यादि एकवचन होने से एक २ और 'वृक्कौ' में द्विवचन होने से दो समझने चाहियें॥ ५॥

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च॥ ६॥

अब इनका विस्तार से वर्णन किया जाता है। सातों त्वचाओं का वर्णन पहिले होचुका है। इसी प्रकार कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फेफड़े, उण्डुक, हृदय और गुर्दे; इनका भी वर्णन पहिले किया जा चुका है॥ ६॥

आशयास्तु-वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आमाशयः, पक्वाशय, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति॥ ७॥

आशय—१ वाताशय, २ पित्ताशय, ३ श्लेष्माशय, ४ रक्ताशय, ५ आमाशय (tomachS), ६ पक्वाशय (Duodenum & Intestines) ७ मूत्राशय (Bladder) तथा स्त्रियों में ८ गर्भाशय॥ ७॥

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि॥ ८॥

पुरुषों में ३॥ व्याम लम्बी आंतें होती हैं। स्त्रियों में पुरुषों से आधा व्याम कम अर्थात् ३ व्याम होती हैं॥ ८॥

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च॥ ९॥

पुरुषों में २ कान, २ आंख, १ मुख, २ नथुने, १ गुदा (Anus)

---

१ व्यामः बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्।

२ अधस्तादिति स्मरातपत्रस्याधः। स्मरातपत्रं भगस्योपरितने भागे। तथाच "विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्। सकलकामसिरामुखचुम्बितं निगदितं मदनातपवारणम्॥

१ मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय); इस प्रकार नौं बहिर्मुख स्रोत होते हैं। यही स्रोत स्त्रियों में भी होते हैं। परन्तु उनमें तीन स्रोत और होते हैं—दो स्तन में और एक नीचे रजोवह, जिस मार्ग से स्त्रियों को मासिक धर्म हुआ करता है॥ ९॥

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखा [अग्र] प्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बः, ऊरुवक्षोऽक्षपिण्डादिगतानां च मूर्धा ॥ १०॥

कण्डरायें (महास्नायु, स्थूलस्नायु) सोलह हैं। उनमें से चार पैरों में, चार हाथों में, चार गर्दन में और चार पीठ में। यहां पर पाद—पैर शब्द से पादतल से लेकर कटिफलक (Os innominatum) तक का प्रदेश अभिप्रेत है। इसी प्रकार हस्त-हाथ शब्द से अंगुलियों से लेकर अंसफलक (Scapula) तक का प्रदेश अभिहित है। अभिप्राय यह है कि दो २ कण्डरा एक पैर में और एक २ हाथ में हैं। इसी प्रकार गरदन के दोनों पासे दो २ हैं। और पीठ में भी पृष्ठवंश के दोनों ओर दो २ हैं। यहां हाथ और पांव की कण्डराओं के नख प्ररोह [अंकुर] हैं अर्थात् जैसे अंकुर का अन्तभाग अपने बीज से जुड़ा रहता है, उसी प्रकार नख कण्डराओं के साथ संयुक्त हैं [यद्यपि नख कण्डराओं से पैदा नहीं होते], इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

---

१ 'संबन्धनीनां' इति पा०।

२ 'नितम्बः' इति पा०। हाराणचन्द्रस्तु 'बिम्बः' इति पठित्वा 'बिम्बः सच्छिद्रं त्रिकास्थि उच्यते' इति व्याख्यानयति। डल्हणस्तु बिम्बं मण्डलमर्थान्नितम्बस्येति व्याचष्टे।

३ डल्हणश्च मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च इति पठित्वा व्याख्यानयति—"मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां चेति पूर्ववाक्यात् बिम्बमनुवर्तते, तेन मस्तकस्य यत् बिम्बं मण्डलं तद् ग्रीवाश्रितानां प्रागुक्तानामेव चतसृणामुपरिगतानां कण्डराणामग्रप्ररोहः, तथा पादगतानां चतसृणामुपरिगतानामूरुमण्डलमग्रप्ररोहः। तथा पृष्ठगतानां चतसृणां कण्डराणामुपरिगतानां वक्षोमण्डलम्, आदिशब्दगृहीतस्य स्तनस्य च मण्डलमग्रप्ररोहः। हस्तगतानां चतसृणामुपरिगतानामंसपिण्डौ बाहुशिरोऽग्रप्ररोह इति। मस्तकस्य तथैवोर्वोस्तथा

ग्रीवा और हृदय को बांधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रान्त का प्ररोह मेढ्र [मूत्रेन्द्रिय] है। श्रोणि (कटि देश) और पृष्ठवंश को बांधने वाली कण्डराओं के नीचेके प्रान्त का प्ररोह बिम्ब [त्रिकास्थि] है। और इन कण्डराओं के ऊपर के प्रान्त जो ऊरु देश से छाती तथा अक्षिगोलक आदि की ओर [अर्थात् ऊपर की ओर] जाते हैं, उनका प्ररोह शिर है॥ १०॥

मांससिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम्॥ ११॥

मांस, शिरा, स्नायु तथा अस्थियां; प्रत्येक के जाल चार २ हैं। ये सब मणिबन्ध (कलाई) और गुल्फ [टखने] में आश्रित हैं। ये परस्पर बंधे हुए हैं, परस्पर जुड़े हुए हैं और परस्पर चालनी के सदृश गवाक्षित (छिद्रित) हैं। इन जालों द्वारा यह शरीर गवाक्षित (Spongy) हुआ २ है। अस्थिगत एवं मांसगत रुधिर के संशोधन के लिये शिरायें मणिबन्ध तथा गुल्फदेश में अपने आश्रय अस्थि एवं मांस को तथा अपने आपको जाल के आकार में परिणत करके मांस एवं अस्थि में प्रविष्ट होती हैं। स्नायु तो संधि को दृढ़ता पूर्वक जकड़े रखने के लिये जालाकार होती ही हैं॥ ११॥

षट् कूर्चाः, ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु; हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः॥ १२॥

छः कूर्च-(कूर्च-कूची आदि की आकृति में इकट्ठे हुए २ स्नायु धमनी

वक्षसस्तथांसपिण्डयोश्च यद्बिम्बं मण्डलं आदिशब्दात् स्तनपिण्डयोरपि मण्डलं, तासां षोडशानां यथासमीपं प्ररोहः।

अर्थात् ग्रीवाश्रित चारों कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह मस्तकमण्डल है। पांव की चारों कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह ऊरु-मण्डल है। पृष्ठाश्रित चारों कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह वक्षो (छाती) मण्डल तथा स्तनमण्डल है। हाथ की चारों कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह अंसपिण्ड अर्थात् बाहु का ऊर्ध्व भाग है।

१—कूर्चा नाम स्नायुधमनीसन्निपाताः। तेष्वेकैकाः स्नायुसन्निपाताः पञ्चसु ग्रीवाकक्षावङ्क्षणभागेष्वेकश्च धमनीसन्निपातो मेढ्रे दृश्यते। इति हाराणः।

आदि)हैं। ये हाथ, पांव, गर्दन और मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) में होते हैं। हाथों में दो, पांवों में दो, गर्दन में एक, और मूत्रेन्द्रिय में एक ॥ १२॥

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे ॥ १३ ॥

बड़ी २ मांस की रज्जु चार हैं। ये पृष्ठवंश के दोनों ओर मांसपेशियों के बान्धने का काम करती हैं। दो रज्जु अन्दर और दो रज्जु बाहिर होती हैं। अर्थात् दो, अन्तः मांसरज्जु, जो कि पृष्ठवंश के दोनों ओर एक २ होती है, अन्तःमांसपेशियों को परस्पर जोड़े रखती हैं और दो बाह्यमांसरज्जु बाह्यमांसपेशियों को बांधे रखती हैं॥ १३ ॥

सप्त सेवन्यः; शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैका; ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण ॥ १४ ॥

सात सीवन हैं-शिर में पांच, जिह्वा और मूत्रेन्द्रिय में एक २। सर्वदा सीवन को बचाते हुए ही शस्त्रकर्म करना चाहिये। क्योंकि इस स्थल पर शस्त्रकर्म करने पर कठिनता से सन्धान होता है॥ १४ ॥

चतुर्दशास्थ्नां संघाताः; तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः ॥ १५ ॥

हड्डियों के संघात (दृढ़ जोड़) चौदह हैं। गुल्फ (टखना) जानु (गोडे) और वङ्क्षण देश प्रत्येक पर एक २। इस प्रकार तीन एक टांग में। दोनों टांगों में मिलाकर छः। हाथ में कलाई, कोहनी और कक्षदेश में एक २। दोनों हाथों में मिलाकर छः। त्रिक पर एक और शिर की हड्डियों का संघात एक ॥१५॥

चतुर्दशैव सीमन्ताः, ते चास्थिसङ्घातवद्गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता

---

१ 'सीवन्यः' इति पा०।

२ पृष्ठवंशस्याधः संहतमस्थि त्रिकमुच्यते। अत्राविशेषेऽप्येतेषु मध्ये गुल्फे मणिबन्धे च सप्तानां, कूर्परे त्रयाणां, जानुनि चतुर्णां, कक्षावङ्क्षणयोर्द्वयोर्द्वयोः, शिरसि षण्णां, त्रिके च त्रित्वेन विजृम्भितानां चतुर्णामस्थ्नां संघाता इत्यवधेयम्। इति हाराणचन्द्रः।

यद्यपि श्रोणिकाण्डभागे त्रिकं प्रसिद्धं तथाप्यत्र बाहुकक्षांसास्थित्रयसंघातस्त्रिक उच्यते इति केचित्।

अस्थिसंघाताः ये ह्युक्ताः। सीमन्तास्तु खल्वष्टादशैकेषाम् ॥ १६ ॥

सीमन्त भी चौदह हैं । इनका अस्थिसंघात के समान ही परिगणन करना चाहिये, क्योंकि जो अस्थिसंघात अभी कहे गये हैं, वे इनसे युक्त होते हैं। कईयों के मत में (वाग्भट आदि के मतमें—तद्वत् सीमन्ताः। ते तु पञ्च शिरसीत्यष्टादश) सीमन्त १८ माने गये हैं । वाग्भट आदि ने अस्थिसंघात में शिरःकपाल की अस्थियों के संघात को संघातत्वेन एक ही माना है । परन्तु सीमन्त में उनकी पांच सन्धि (सीमन्त) होती हैं । अतः शिर में पांच सीमन्त मानकर अठारह गिने हैं॥ १६ ॥

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते; शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥ १७ ॥

वेदवादी (अग्निवेश आदि) मुनि शरीर में ३६० हड्डियां मानते हैं। परन्तु शल्यतन्त्र में स्थूलतया ३०० हड्डियां ही देखने में आई हैं।

इनमें से शाखाओं में १२० हड्डियां हैं। श्रोणि (कटि), पार्श्व (पासे), पीठ तथा छाती में मिलाकर ११७ हड्डियां हैं। गरदन से ऊपर ६३ हड्डियां हैं। इस प्रकार १२०+११७+६३=३०० हड्डियां होती हैं।

---

१ डल्हणस्तु "यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः ये ह्युक्ताः संघातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम्" इति पठित्वा, "परमतमाह—ये ह्युक्ता इत्यादि—एकेषामाचार्याणां मते संघाता अष्टादश; तद्यथा पूर्वोक्ताश्चतुर्दश, श्रोणिकाण्डमुपर्येकः, वक्ष उपर्येकः, उदरोरःसन्धान एकः, अंसकूटमुपर्येकः, एवमष्टादश।" इति व्याचष्टे। परं वाग्भटस्तु "गुल्फजानुवंक्षणमणिबन्धकूर्परकक्षासु एकैकः, त्रिके एकः, पञ्च शिरसि" इत्यष्टादश सीमन्तानाह, संघातांस्तु चतुर्दशैव। सीमन्तलक्षणं च भोजेनोक्तं–संघाता संचिता यैस्तु सीमन्तांस्तान् प्रचक्ष्महे। "संचिता" इत्यत्र "सीविता" इति पाठान्तरमप्युपलभ्यते।

२ 'षष्ट्यधिकानि' इति पा०।

३ तेषामष्टादशोत्तरं शतं शाखासु, पञ्चाधिकं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःकण्ठनाडीषु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तसप्ततिः। एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते। इति हाराणसंमतः पाठः।

हाराणचन्द्र के पाठ के अनुसार शाखाओं (हाथ पांव) में ११८ हड्डियां हैं। कटि, पार्श्व, पीठ, छाती और कण्ठनाडी में मिलाकर १०५ हड्डियां हैं। गर्दन से ऊपर ७७ हड्डियां हैं। इस प्रकार ११८+१०५+७७=३०० अस्थियां पूरी होती हैं ॥ १७ ॥

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकं, एकमूराविति; त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥ १८ ॥

पैर की एक २ अंगुलि में तीन २ हड्डियां इस प्रकार अंगुलियों में पन्द्रह हड्डियां होती हैं। तल, कूर्च तथा गुल्फ देश की अस्थियां मिलाकर दस। पार्ष्णिदेश में एक। जङ्घा में दो। जानु में एक। ऊरुदेश में एक। इस प्रकार एक टांग में ३० हड्डियां होतीं हैं। इसी से ही दूसरी टांग और दोनों बाहुओं की हड्डियां कहदी गई हैं।

हाराणचन्द्र के अनुसार एक पाँव की एक २ अंगुली में तीन तीन =१२ अस्थियां। अंगूठे में २। इस प्रकार एक पांव की अँगुलियों और अंगूठे की हड्डियों का जोड़ १४ होता है। तल देश की अस्थियां ५, कूर्च देश की ३, गुल्फ देश की ३; अतः तल, कूर्च और गुल्फ देश की अस्थियां मिलाकर ११ होती हैं। पार्ष्णि में १। जङ्घा में २। जानु में १। ऊरु देश में १। इस प्रकार एक टांग में ३० अस्थियां होती हैं। दूसरी टांग में भी इसी प्रकार ३०। जान्वस्थि को छोड़कर बाहुओं में शेष अस्थियां टांग की तरह ही हैं। परन्तु यहां पर हाराण ने भूल की है। यद्यपि बाहू में जान्वस्थि की तरह कूर्परास्थि नहीं होती परन्तु कूर्च देश में एक अस्थि अधिक होती है। अतः संख्या उतनी ही रहती है, जितनी टांग की अस्थियों की है ॥ १८ ॥

---

१ एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि, अंगुष्ठे द्वे, तानि चतुर्दश। तलकूर्चगुल्फसंश्रितान्येकादश। पार्ष्ण्यामेकम्। जङ्घायां द्वे। एकमुराविति त्रिंशदेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। द्वितीयेऽप्येवम्। एतेनैव च जानुवर्जंन बाहू च व्याख्यातौ। इति हाराणचन्द्रसंमतः पाठः।

श्रोण्यां[1] पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु[2] चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्[3] द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि[4]; द्वे अंसफलके[5] ॥ १९ ॥

श्रोणि देश में पांच हड्डियां होती हैं, इनमें से गुदा, भग तथा दोनों नितम्ब देशों को मिलाकर चार, त्रिक देश में आश्रित एक होती है।

एक पार्श्व में छत्तीस, दूसरे पार्श्व में भी इतनी ही हड्डियां होती हैं। पीठ में तीस। छाती में आठ। दो अंसफलकास्थि (Scapula)।

हाराणचन्द्र के अनुसार श्रोणि देश में पांच अस्थियां हैं। इनमें से गुद भग तथा नितम्ब देश में (सम्मिलित) चार और एक त्रिकास्थि।

पार्श्वों में ४८ अस्थियां। इन्हें पर्शुकास्थि कहते हैं। ये सामने अर्थात् छाती की ओर उरोऽस्थि और पीठ की ओर कशेरुकास्थि से सम्बद्ध रहती हैं। ये अस्थियां तरुणास्थियों द्वारा उरोऽस्थि से सम्बद्ध रहती हैं। अतः अस्थि और तरुणास्थि मिलाकर ४८ होती हैं। यहां पर भी भूल है, क्योंकि प्रत्येक पार्श्व की ११ वीं और १२ वीं अस्थि तरुणास्थि द्वारा उरोऽस्थि से सम्बद्ध नहीं होती।

पीठ में २४ हड्डी होती हैं। इन्हें कशेरुकास्थि (Vertebra) कहा जाता है। ये अस्थियां देश भेद से तीन भागों में विभक्त की गई हैं। गर्दन की अस्थियां ७, पृष्ठास्थि १२, कटिभागस्थित ५। अंस देश में दो अंसपीठ (Scapula)। छाती में तीन अस्थियां हैं, ये तीनों

---

१ श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, पार्श्वयोरष्टचत्वारिंशत्। पृष्ठे चतुर्विंशतिः, द्वे अंसपीठे, उरसि त्रीणि, अक्षकसंज्ञे द्वे, फुप्फुसनिबद्धायां कण्ठसंसक्तायां नाड्यामेकविंशतिः। इति हाराणः।

२ 'भगगुदनितम्बेषु' इति पा०।

३ प्रतिपार्श्वं द्वादश पर्शुकाः, द्वादश स्थालकानि, द्वादश स्थालकार्बुदानीति मिलित्वा षट्त्रिंशदस्थीनि ज्ञेयानि

४ अष्टावुरसीति उरः फलके षट्, अक्षकसंज्ञे द्वे; इति मिलित्वाऽष्टावुरस्यस्थीनि ज्ञेयानि।

५ 'द्वे अक्षकसंज्ञे' इति पा०।

मिलकर उरोऽस्थि कहलाती है। अक्षक नाम(हंसली)की अस्थियां दो। फुप्फुस के साथ बंधी हुई कण्ठनाडी (Trachea) में २१ हड्डियां ॥१९॥

ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति ॥ २० ॥

ग्रीवा में नौ, कण्ठनाडी में चार, हनुदेश में दो, दांत बत्तीस, नाक में तीन, तालुदेश में एक, गण्ड, कर्ण तथा शंखदेशों में एक २ (मिलाकर ६) शिर में छह।

हाराण के अनुसार ग्रविाके आगे ९,ग्रीवा के ऊपर १,कर्णशष्कुली में अन्दर से नीचे की ओर ६, गण्ड, कर्ण और शंख देश में एक २। हन्वस्थि १ दांत ३२, नाक में ८,नाक में आंख के अन्तः प्रान्त की ओर २, अपाङ्गों (आंख का बाह्य प्रान्त) में नीचे की ओर दो। वर्त्म नामक अस्थि दो। शिर में ६। शिर के अन्दर दो ॥ २० ॥

परन्तु प्रत्यक्षविरोध होने से यह प्रमादपाठ ही प्रतीत होता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अंगूठे में दो अस्थियां होती है। परन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में प्रत्येक अंगुलि में ही तीन बताई गई हैं ! यह प्रतिसंस्कर्त्ताओं की भूल ही प्रतीत होती है। क्योंकि सन्धिनिर्देश करते हुए अंगूठे में दो सन्धियां बताई जायंगी। यदि इसमें तीन अस्थियां हों तो अन्य अंगुलियों की तरह इसमें भी तीन सन्धियां बताई जातीं।

इसी प्रकार आजकल तरुणास्थि तथा दांतों को अस्थिपरिगणन में नहीं गिना जाता।

बहुत सी हड्डियां बाल्यावस्था में पृथक् २ होती हैं, जो पीछे से जुड़ जाती

---

१ अत्र 'कण्ठनाड्यां त्रीणि, एकं हनौ, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां नव, तालुनि द्वे, गण्डयोर्द्वे, शङ्खयोर्द्वे, कर्णयोः षट्, षट् शिरसि' इति पाठो रसयोगसागरस्योपोद्घाते वै. पं. हरिप्रपन्नशर्मणा संशोधितः।

ग्रीवायाः पुरस्तात् नवकं, तदूर्ध्वमेकम्। अभ्यन्तरतः कर्णशष्कुल्योरधस्तात् षट्, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकम, हनुसमाख्यमेकम्, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायामष्टौ, नासायामुपकर्नीनकं द्वे,अपाङ्गयोरधस्ताद् द्वे, वर्त्मसंज्ञे द्वे, षट् शिरसि, शिरसोऽभ्यन्तरे च द्वे। इति हाराणसंमतः पाठः।

हैं और मिलकर एक प्रतीत होती हैं।

तथा च अस्थियों में स्थालक, अर्बुद एवं उदूखल आदि को पृथक् २ गिनने से भी परिगणन में भेद आजाता है ॥

इन उपर्युक्त कारणों से अस्थि परिगणन में बड़ी गड़बड़ मची हुई प्रतीत होती है। अतः आधुनिक अस्थिपरिगणन को जान लेना चाहिये। आजकल तरुणास्थि तथा दांत आदि को छोड़कर शेष अस्थियां निम्न प्रकार से गिनी गई हैं।

करोटि या शिर में ८ अस्थियां:

- १ सन्मुखकपालास्थि (Frontal)
- २ पार्श्वकपालास्थि (Parietal)
- १ पश्चात्कपालास्थि (Occipital)
- २ शङ्खास्थि (Temporal)
- १ शौषिरास्थि (Ethmoid)
- १ जतूकास्थि अथवा कीलकास्थि(Sphenoid)

८

मुखमण्डल में १४ अस्थियां:

- २ नासास्थि [Nasal]
- २ ऊर्ध्व हन्वस्थि[Superior Maxillary]
- २ गण्डास्थि (Malar or cheekbones)
- २ अश्रवस्थि अथवा नखास्थि (Lachrymal)
- २ ताल्वस्थि [Palatal]
- २ निम्न शौषिरास्थि अथवा नासाफलकास्थि [Inferior turbinated]
- १ हलाकार-अस्थि [Vomer]
- १ निम्नहन्वस्थि [Inferior maxillary or Mandible]

१४

ऊर्ध्व शाखा की ६४ अस्थियां—

- १ जिह्वामूलास्थि (Hyoid)
- २ अक्षकास्थि (Clavical or collarbone)
- २ अंसफलकास्थि (Scapula or Shoulder-blade)
- २ प्रगण्डास्थि [Humerus]
- २ कोदण्डास्थि [Radius]
- २ प्रकोष्ठास्थि [Ulna]
- १६ मणिबन्ध देश में (Wrist or Carpal bones
- १० करभ अथवा हस्ततल में शलाकास्थियां [Metacarpal]
- २८ अङ्गुलियों में [Phalanges]

६४

एक ऊर्ध्व शाखा में ३२ अस्थियां होती हैं। उपर्युक्त ६४ अस्थियां दोनों ऊर्ध्व शाखाओं [Upper limbs] में होती हैं।

अधः शाखा की ६२ अस्थियां

- २ श्रोणिफलकास्थि या नितम्बास्थि [Ossa-innominata or Hip bone]
- २ ऊर्वस्थि [Femur]
- २ जानुचक्रास्थि या जानुकपालास्थि- [Patella]
- २ जङ्घास्थि [Tibia]
- २ अनुजङ्घास्थि [Fibula]
- १४ गुल्फदेश में [Tarsal bones]
- १० प्रपद या पादतल में [Metatarsal bones]
- २८ अंगुलियों में [Phalanges]

६२

पृष्ठवंश की २६ अस्थियां {
ग्रीवा में—७ कशेरुका (Cervical)
पीठ में—१२ कशेरुका (Thoracic)
कटि में—५ कशेरुका (Lumber)
त्रिकदेशमें—१ त्रिकास्थि (Sacrum)
गुदादेशमें—१ पुच्छास्थि (Coccyx)

२६

यहां पर त्रिकास्थि ५ कशेरुकाओं के संयुक्त होने से बनती है और पुच्छास्थि ४ कशेरुकाओं के मिलने से।

छाती की २५ अस्थियां {
१ उरोऽस्थि (Sternum)
२४ पर्शुकास्थि (Ribs)

२५

कान की ६ अस्थियां { ६ अस्थियां मध्यकर्ण में अवस्थित

एक ओर के मध्यकर्ण में ३ अस्थियां होती हैं। दोनों ओर की मिला कर ६ होती हैं।

इस प्रकार आधुनिक मत के अनुसार मोटे तौर पर २०६ अस्थि मानी गई हैं।

अर्थात् आधुनिक मत के अनुसार हमें निम्न प्रकार से मूलपाठ करना चाहिये—

षडधिकद्विशतानीत्याधुनिकाः विना तरुणास्थिदन्तोलूखलनखैः । तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, अष्टाधिकं पञ्चाशतं जिह्वामूलश्रोण्यंसजत्रुपार्श्वपृष्ठोरःसु । ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वमष्टाविंशतिः ।

तत्र एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि अंगुष्ठे द्वे, तानि चतुर्दश । प्रपदेऽस्थिशलाकाः पञ्च । कूर्चगुल्फसंश्रितानि षट्। पार्ष्ण्यमेकम्। जङ्घायां द्वे । जानुन्येकम् । एकमुराविति, त्रिंशदेवमेकास्मिन् सक्थिन भवन्ति । द्वितीयेऽप्येवम् । एतेनैव च जान्वस्थिवर्जेन कूर्चास्थ्नाधिकेनैकैन बाहुश्च व्याख्यातः । द्वितीयोऽप्येवम् ।

जिह्वामूलसंश्रितमेकम् । श्रोण्यां द्वे । अंसयोर्द्वे । जत्रुणोर्द्वेऽक्षकास्थिनी । पार्श्वे द्वादशैकस्मिन् । द्वितीयेऽप्येवम् । पृष्ठवंशे षड्विंशतिः । उरस्येकम् ।

शिरस्यष्टौ । मुखमण्डले चतुर्दश । कर्णयोः षट् । एवं च षडधिकद्विशतमस्थ्नां पूर्यते ॥२०॥

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा — कपालरुचकतरुणवलय-नलकसंज्ञानि । तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि[1], शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥ २१ ॥

अस्थियां पांच प्रकार की होती हैं । १-कपाल (Flat Bones) २-रुचक (Dental) ३-तरुण (Cartilage) ४-वलय (Ring bones & Irregular bones) ५-नलक (Long bones & Short bones) ।

इनमें से जान्वस्थि(Patella),नितम्बास्थि,(Os innominatum)अंसास्थि (Scapula), गण्डास्थि, शंखास्थि (Temporal bone)तथा शिर की हड्डियां कपाल संज्ञक हैं । दांत रुचकास्थि के बने हुए हैं । नाक, कान, गर्दन, अक्षिकोष तथा कण्ठनाडी (Trachea) में तरुणास्थि होती हैं । पार्श्व, पीठ, छाती में वलयास्थि हैं । शेष अस्थियां नलकास्थि में गिनी जाती हैं ॥२१॥

भवन्ति चात्र ।

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ॥
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥ २२ ॥

तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ॥
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२३॥

जैसे वृक्ष अपने अन्तःकाष्ठ के सहारे खड़े रहते हैं, इसी प्रकार प्राणियों के देह अस्थिरूपी सार के सहारे धारण किये जाते हैं ।

अतएव यदि प्राणियों के त्वचा तथा मांस आदि देर से नष्ट भी हो

---

१ "पाणिपादपृष्ठोरःसु वलयानि" "पाणिपादपृष्ठोदरोरःसु वलयानि" इति वा पाठः न समीचीनः । पाणिपादेषु नलकास्थीनामुपलम्भात् उदरे चास्थ्यनुपलम्भात् । उक्तं च भोजेन—हस्तपादांगुलितले कूर्चेषु मणिबन्धयोः । बाहुजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु ।

गये हों तो भी हड्डियां नष्ट नहीं होतीं, क्योंकि ये प्राणियों में सारभूत होती हैं ॥२२–२३॥

मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा ॥
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥ २४ ॥

शरीर में जितनी भी मांसपेशियां, शिरा या स्नायु हैं; वे सब हड्डी के सहारे ही स्थित हैं अतएव वे न ढीले पड़ते हैं न गिरते हैं ॥२४॥

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः[1], स्थिराश्च ॥ २५ ॥

सन्धियां दो प्रकार की होती हैं–१–चेष्टायुक्त (Movable or diarthroses) २–स्थिर (Immovable or synarthroses) ॥२५॥

शाखासु हन्वोः कट्यां च[2] चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ॥
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥ २६ ॥

शाखाओं में (बाहु एवं सक्थि में), हनुदेश में, कटि (कमर में) देश में चेष्टा युक्त सन्धियां हैं। शेष सम्पूर्ण सन्धियां स्थिर हैं।

यहां पर मुख्य २ चेष्टावान् सन्धियों के नाम ही लिए गये हैं। मेरुदण्ड की सम्पूर्ण कशेरुकाओं की सन्धि ही चेष्टावान् होती है। उनमें चेष्टा अल्प (Amphiarthroses) ही होती है, अतः उसे अचेष्ट या स्थिर में ही गौण रूप से कह दिया है ॥ २६ ॥

सङ्ख्यातस्तु[3] दशोत्तरे द्वे शते; तेषां शाखास्वष्टषष्टिः, एकोनषष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः ॥ २७ ॥

---

१ चेष्टावन्तः सन्धयो द्विविधाः–बहुचेष्टा अल्पचेष्टाश्चेति कृत्वा। तत्र शाखासु अधोहनुकोट्योश्च बहुचेष्टाः, पृष्ठवंशादिष्वल्पचेष्टाः, अन्यत्र पुनरचेष्टाः। अथात्र चेष्टावत्सु सन्धिष्वास्थिद्वयमास्थित्रयं वा सम्बध्यते सान्द्रमसृणशणगुच्छसमाकाराभिः प्रतानवतीभिः स्नायुरज्जुभिः स्नायुकोषैश्च। सन्धेयभागाश्च तत्रास्थ्नां तरुणास्थिसमावृताः सुसंश्लिष्टाश्च श्लेष्मधरकलापुटव्यवधानेन सम्यग्वर्तनाय। अचेष्टाः पुनः सन्धयः प्रतनुस्नायुजालसंहता दन्तुरधारादिभिर्निरन्तरसंश्लिष्टाश्च, तेषु हि प्रयोजनाभावात् श्लेष्मधरकलाया अभावः।' इति प्रत्यक्षशारीरे, गणनाथसेनः।

२ कट्यां चेति चकारात् ग्रीवायामपि चलाः।

३ संख्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते। तषां शाखास्वष्टषष्टिः। एकोननवतिः कोष्ठे। ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिपञ्चाशत् ॥ इति हाराणसंमतः पाठः॥

ये सन्धियां (मोटे तौर पर) २१० हैं। इन में से शाखाओं में ६८, कोष्ठ में ५९, ग्रीवा से ऊपर ८३ सन्धियां हैं ॥२७॥

एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः; द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश; जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः; एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति; एतेनेतरसिक्थ बाहू च व्याख्यातौ ॥२८॥

शाखागत सन्धियां:—

पांव की प्रत्येक अंगुली में तीन तीन=४×३ = १२

	पांव के अंगूठे में	= २
इस प्रकार	एक पांव में	= १४ सन्धियां हुईं
	जानु (गोडे) देश में	= १
	गुल्फ (टखना) देश में	= १
	वङ्क्षण (रान) देश में	= १
इस प्रकार	एक टांग में	= १७

इतनी ही दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में भी होती हैं। अतः चारों शाखाओं में १७×४ = ६८ सन्धियां हैं ॥२८॥

त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ ॥ २९ ॥

कोष्ठ (मध्य शरी) गत सन्धियां:—

कटीकपालों में सन्धियां	=३
पृष्ठवंश में	=२४
इतनी ही पार्श्वों में	=२४
छाती में	=८
	५९ ॥२९॥

अर्थात् ये सन्धियां मोटे तौर पर गिनती में २१० हैं। इनमें से ६८ सन्धियां शाखाओं में हैं। ८६ कोष्ठ में और गरदन से ऊपर ५३।

१ पञ्च कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरसि षोडश, फुप्फुसनिबद्धायां कण्ठसंसक्तायां नाड्यां विंशतिः। इति हाराणसम्मतः पाठः ॥

अर्थात् कोष्ठ (मध्यशरीर) गत सन्धियां इस प्रकार हैं—कटिकपालों में ५ सन्धियां, पृष्ठवंश (मेरुदण्ड में) २४, इतनी ही पार्श्वों में अर्थात् २४, छाती में १६, फुप्फुस में संयुक्त कण्ठनाडी (Trachea) में २०; ये मिलाकर इस प्रकार ८९ सन्धियां होती हैं ॥

तावन्त एव ग्रीवायां; त्रयः कण्ठे; नाडीषु हृदयक्लोमनिबद्धास्वष्टादश; दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके, नासायां च, द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद्भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि॥ ३० ॥

ऊर्ध्वजत्रुगत सन्धियां:–

उतनी ही गर्दन में	=८
कण्ठ में	=३
हृदय एवं क्लोम से सम्बद्ध नाडी में	=१८
जितने दांत हैं, उतनी ही दांत की जड़ों में	=३२
काकलक में	=१
नाक में	=१
नेत्राश्रित वर्त्ममण्डल में	=२
गण्डों में एक २	=२
कानों में एक २	=२
शङ्खों में एक २	=२
हनु (जबड़ा) सन्धियां	=२
भौंहों के ऊपर	= २
शंखों के ऊपर	= २
शिरःकपालों में	= ५

१ त्रयः कण्ठे, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, नासायामेकः, द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः । द्वौ हनुसन्धी, द्वावधस्ताच्छङ्खयोः, पञ्च शिरःकपालेषु । इति हाराणसंमतः पाठः ॥

गले में ३, दन्तमूलों में३२, नाक में १, नेत्र में आश्रित वर्त्ममण्डल की सन्धियां २, गण्डस्थल पर एक २ अर्थात् २, कान में एक २ अर्थात् २, शंख देश में एक २ अर्थात २, हनुसन्धियां २, शंखदेशों के नीचे २, शिरःकपालों में ५; इस प्रकार ये मिलाकर ५३ सन्धियां होतीं हैं ॥

२ केचित्त्वत्र 'नाडीषु फुप्फुसक्लोमनिबद्धासु' इति पठन्ति। 'त्रयः कण्ठे, त्रयः कण्ठनाड्यां, हृदयक्लोमनिबद्धासु नाडीष्वष्टादश' इति पा० ।

३ 'नासायां पञ्च, द्वौ द्वाविव द्वयोर्नेत्रयोर्भवतः, द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ' इति पा० ।

मूर्धा में = १

——

८३

——

जत्रूर्ध्वगत सन्धियों को श्लोकबद्ध करते हुए कहा भी है—

ग्रीवास्वष्टौ त्रयः कण्ठे कण्ठनाड्यां नवद्वयम्।
वर्त्ममण्डलगण्डाह्वकर्णशङ्खहनुद्वये॥
भ्रूशङ्खद्वितयस्योर्ध्वं सप्तस्वेषु द्वयं द्वयम्।
कपाले पञ्च मूर्ध्न्येको नासाकाकलयोर्द्वयम्॥
द्वात्रिंशता त्र्यशीतिः स्यादेवं दन्ताश्रितैः सह॥

इस प्रकार सब मिलाकर ६८+५९+८३ = २१० सन्धियां हैं॥३०॥

त एते सन्धयोऽष्टविधाः—कोरोलूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्ताः॥ ३१॥

ये सन्धियां आठ प्रकार की हैं। १-कोर २-उदूखल ३-सामुद्ग ४-प्रतर ५-तुन्न सेवनी ६-वायसतुण्ड ७-मण्डल ८-शङ्खावर्त्त[२]॥३१॥

तेषामंगुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्-

---

१ 'तत्र कोरा नाम सन्धयो बहुचेष्टाः, उत्तानकोरगर्भेष्वस्थिप्रान्तेषु उत्सेधवतामस्थिभागानां सन्धानरूपाः। उदूखला नाम सन्धयोऽपि बहुचेष्टाः, उदूखलवद्गभीरप्रायेष्वस्थिभागेषु इतरास्थिमुण्डसन्धानरूपाः। तेषु हि स्वोदूखलानाश्रित्य अभितो विवर्तन्ते तानि तान्यस्थीनि यथा-कक्षावङ्क्षणसन्धिषु। दशनोदूखलास्तु स्थिराः संधयः पृथगेव मन्तव्याः। सामुद्गा नाम समुद्गनिर्मापका इव सन्धयोऽल्पचेष्टाः। ते च श्रोणिचक्रांसचक्रादिषु दृश्याः। प्रतरा नाम प्रतरणशीलैरिव इषच्चलैः समतलांशाभ्यां परस्परसंहितैरस्थिखण्डैर्निर्मिताः सन्धयः तुन्नसेवन्यो नाम-परस्परापीडनैर्दन्तुरधारादिभिर्निर्मिताः कपालान्तरालाः सन्धयः। ते शिरःकपालेषु दृश्याः, कटिकपालेषु च प्राग्यौवनात्। वायसतुण्डाख्यस्तु सन्धिः अधोहनुमुण्डयोः शङ्खास्थिगताभ्यां हनुसन्धिस्थालकाभ्यां सन्धानान्मुखव्यादानादिसम्पादकः, स तु कोरसन्धेरेव खल्लकोराख्यो भेदो युग्मरूपः तस्य कोरग्रहणेनैव ग्रहणमिति सूक्ष्मदृशः, मण्डलशङ्खावर्ताः पुनः क्रमात् श्वासपथकर्णशष्कुलीगतास्तरुणास्थिसन्धय.' इति प्रत्यक्षशारीरे गणनाथसेनः।

२—एक सन्धि और है, जिसे अंग्रेजी में Pivot joint कहते हैं। यह सन्धि प्रथम और द्वितीय ग्रीवाकशेरुकाओं में होती है।

क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु[1] सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हनोरुभयतस्तु[2] वायसतुण्डः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु[3] मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शंखावर्ताः । तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ३२ ॥

इनमें से अङ्गुलि, मणिबन्ध (कलाई), गुल्फ, जानु (गोडे) तथा कूर्पर (कोहनी) में कोर (Gliding joints or Arthrodia, hinge joints or ginglymus) नामक सन्धि होती हैं । कक्षा वङ्क्षण तथा दांतों में उदूखल (ऊखल, Enarthrodia or ball and socket joints) नामक सन्धियां हैं । अंसपीठ, गुदा, भग तथा नितम्ब देश पर अस्थियों की सामुद्ग (संपुटाकार) नामक सन्धियां हैं । ग्रीवा (पृष्ठ वंश का ऊर्ध्व भाग) और पृष्ठवंश में प्रतर नामक सन्धियां हैं । शिर और कटि कपालों में तुन्नसेवनी (Sutures) नामक सन्धियां हैं । हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड (कौवे की चोंच की तरह) सन्धियां हैं । कण्ठ, हृदय, नेत्र और क्लोमनाडी (Trachea) में मण्डल नामक सन्धियां हैं । श्रोत्र शृङ्गाटकों में शंखावर्त सन्धि है । इन सन्धियों के नाम से ही उन की आकृति का वर्णन कर दिया गया है ॥३२॥

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः ।
पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते ॥ ३३ ॥

ये परिगणित सन्धियां केवल हड्डियों की ही जाननी चाहियें । मांस पेशी, स्नायु तथा शिराओं की संधिसंख्या तो गिनी नहीं जासकती । ३३॥

नव स्नायुशतानि । तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः ॥ ३४ ॥

स्नायु ९०० हैं । इन में से शाखाओं में ६००, कोष्ठ (मध्यशरीर) में २३०, और ग्रीवा से ऊपर के देश में ७० ॥

एकैकस्यां तु पादांगुल्यां षट् षट्[4] तास्त्रिंशत्, तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेव-

१ 'अंसपीठगुदपादानितम्बेषु' इति पा० । २ 'हन्वोः' इति पा०
३ कण्ठनेत्रफुफ्फुसनाडीषु मण्डलाः, इति हाराणसम्मतः पाठः ।
४ षट् निचिता इति पाठान्तरे षट्स्नायवो निबद्धा. इत्यर्थः ।

मेकस्मिन् साक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥३५॥

शाखागत स्नायु-पैर की एक २ अंगुली में छः छः स्नायु हैं। अतः पांचों अंगुलियों की स्नायु संख्या ३० हुई। पादतल, कूर्च और गुल्फ देश में ३०, जङ्घा में ३०, जानु देश में १०, ऊरुदेश में ४०, वङ्क्षण में १०, इस प्रकार एक टांग में कुल १५० हैं। इतने ही दूसरी टांग और बाहुओं में भी। इस प्रकार चारों शाखाओं में १५०×४ = ६०० स्नायु होते हैं ॥ ३५ ॥

षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत् ॥३६॥

मध्य शरीरगत स्नायु—कटि में ६०, पीठ में ८०, पार्श्वों में ६०, छाती में ३० ॥

इस प्रकार मध्यशरीर में कुल २३० होते हैं ॥३६॥

षट्त्रिंशद्ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत्; एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि (भवन्ति) ॥ ३७ ॥

ऊर्ध्वजत्रुगत स्नायु—ग्रीवा में ३६, शिर में ३४, इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रु देश में ७० स्नायु हैं।

सब मिलाकर ६००+२३०+७० = ९०० स्नायु होते हैं ॥३७॥

भवन्ति चात्र।

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥ ३८ ॥

ये स्नायु चार प्रकार की होती हैं। १-प्रतानवती (शाखा प्रशाखाओं वाली) २-वृत्ता (गोल), ३- पृथ्वी (चौड़ी, विस्तृत) तथा ४-सुषिरा (खोखली, छिद्रवाली) ॥३८॥

प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेया कुशलैरिह ॥ ३९ ॥

शाखाओं और सम्पूर्ण सन्धियों में प्रतानवती स्नायु होती हैं। यहां सम्पूर्ण कण्डराओं को वृत्त स्नायु जानना चाहिये अर्थात् जितने भी वृत्त (गोल) स्नायु हैं, उन्हें कण्डरा कहा जाता है ॥३९॥

---

१ अस्याग्रे 'महास्नायोस्तु कण्डरेति संज्ञा' इत्यधिकं पठ्यते क्वचित्पुस्तके।

आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥ ४० ॥

आमाशय तथा पक्वाशय के सिरों पर और वस्ति देश में शुषिर स्नायु होते हैं। पार्श्व, छाती, पीठ तथा शिर में चौड़े (फीते की तरह) स्नायु होते हैं ॥४०॥

नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥ ४१ ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार बहुत से बन्धनों से युक्त काष्ठफलक (तख्ते) आदि से तय्यार की हुई सुदृढ़ नौका, जो मल्लाह से चलाई जाती हो, नदी, समुद्र आदि में भार को उठाने में समर्थ होती है; इसी प्रकार इस शरीर में जितनी भी सन्धियां हैं, वे सब बहुत सी स्नायुओं (Ligaments) द्वारा बंधी हुई हैं, और अतएव ही मनुष्य (मनुष्योपलक्षित सर्वप्राणी) भार का सहन कर लेता है। अर्थात् जिस प्रकार नौका के तख्ते यदि बन्धनों से युक्त न हों, तो न वह नौका ही तय्यार हो सकती है और न वह भार ही उठा सकती है। इसी प्रकार मनुष्य में अस्थि आदि संधियां यदि इन स्नायुओं द्वारा न बंधी हों तो न तो, शरीर का ढांचा ही ठीक बन सकता है, और न कोई कार्य ही हो सकता है। इसी प्रकार यदि बन्धन थोड़े हों तो वह अपेक्षाकृत भार भी कम उठा सकेगी और शीघ्र ही टूट जाने का भय रहेगा; यही बात शरीर में भी समझनी चाहिये ॥ ४१–४२ ॥

न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ॥ ४३ ॥

न तो हड्डियां ही, न मांसपेशियां (Muscles), न शिरा(Bloodvessels), और न सन्धियां ही चोट आदि कारणों से विकृत अथवा टूटने से प्राणी के अंग को उतना अकर्मण्य बना सकती हैं, जितनी स्नायु ॥ ४३ ॥

यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥ ४४ ॥

जो वैद्य या चिकित्सक बाह्य तथा आभ्यन्तर स्नायुओं को यथावत् जानता है, वह ही बहुत दूर तक अन्दर गए हुए शल्य को सुचारु रूप से निकालने में समर्थ हो सकता है ॥४४॥

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति । तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत् ॥ ४५ ॥

इस शरीर में ५०० मांसपेशियां हैं । इनमें से शाखाओं में ४००, कोष्ठ में ६६, गरदन से ऊपर ३४ ॥ ४५ ॥

एकैकस्यां तु पादांगुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥४६॥

शाखागत मांसपेशी—पांव की एक २ अंगुली में तीन २ । अतः पांचों अंगुलियों में ३×५ = १५, पांव के अग्र भाग में १०, पांव के उपरि तल में कूर्च में जुड़ी हुई १०, पादतल तथा गुल्फ में १०, गुल्फ और गोडे के बीच (जङ्घा) में २०, गोडे में ५, ऊरू देश में २०, वङ्क्षण में, १०; इस प्रकार एक टांग में १०० मांसपेशियां हैं । इन्हीं से ही दूसरी टांग और बाहुओं की मांसपेशियों को भी जानना चाहिए । अतः चारों शाखाओं में मिला कर १००×४ = ४०० मांसपेशियां हैं ॥ ४६ ॥

तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु ॥४७॥

---

१ गयी तु, 'कोष्ठे षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चत्वारिंशत्' इति पठति ।

२ गयी तु 'एका मेढ्रे, सेवन्यां चैका, द्वे अपरे वृषणयोः, स्फिचोर्द्वयोर्दश, तिस्रो वलिसञ्ज्ञकाः गुदे, द्वे वस्तिशिरसि, सप्तोदरफलके यकृदादिभिः सह, नाभ्यामेका, पृष्ठे सन्धिनिविष्टाः पञ्च, पार्श्वयोः सन्धिर्दीर्घाः पञ्च, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति सर्वतः सप्त, द्वे हृदि, एका आमाशये, द्वे अभ्यन्तरतः कोष्ठे; इति कोष्ठे षष्टिं पठति । वृद्धवाग्भटोऽपि कोष्ठे षष्टिमेवाह ।

कोष्ठगत मांसपेशियां—पायु (गुदा) में ३, मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) में समन्वय रूप से १, सेवनी में १, वृषणों में २, दोनों चूतड़ों में पांच पांच, अर्थात् १०, मूत्राशयके शिरोभाग पर २, पेट में ५, नाभि में १ पीठ के ऊर्ध्व भाग में जुड़ी हुई दीर्घ मांसपेशियां पांच, अर्थात् मिलाकर १०, पार्श्वों में ६, छाती में १०, हंसली और अंस (स्कन्ध) के चारों ओर ७, हृदय और आमाशय में २, जिगर, तिल्ली और आंत्र के उण्डुक भाग में ६; इस प्रकार कुल ६६ हुईं ॥ ४७ ॥

ग्रीवायां[1] चतस्रः, अष्टौ हन्वोः[2], एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका[3] जिह्वायां, ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः[4], गण्डयोश्चतस्रः; कर्णयोर्द्वे; चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति[5]; एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि ॥ ४८ ॥

उर्ध्वजत्रुगत मांसपेशियां—गर्दन में ४, हनु देश में ८, काकलक (स्वरयन्त्र) और गले में एक २अर्थात् मिलाकर २, तालु में २, जिह्वा में १, ओठों में २, नाक में २, आंखों में २, गण्ड देशों (गालों) में ३, कानों में ४, ललाट (मस्तक) में ४, शिर में १, सब मिलाकर ये ३४ होती हैं ।

इस प्रकार ४००+६६+३४=५०० मांसपेशियां होती हैं ॥४८॥

भवन्ति चात्र ।

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥ ४९ ॥

प्राणियों की शिरा, स्नायु, अस्थिपर्व (हड्डी की पोरियां) तथा सन्धियां मांसपेशियों से ढकी रहती हैं और अतएव वे बलवती होती हैं ॥४९॥

स्त्रीणां तु विंशतिरधिका । दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्च पञ्चेति; यौवने तासां परिवृद्धिः ॥ ५० ॥

---

१ गयी तु ग्रीवायां चतस्रः, एका कण्ठे, तथा काकलकेऽप्येका, तालुनि द्वे, रसनायां षट्, अधरयोर्द्वे, घोणायां च द्वे, द्वे कर्णयोः, प्रत्येकं हन्वोश्चतस्रः, अक्ष्णोर्द्वे, "अलिके चतस्रः, मूर्धनि षट्—" इत्यूर्ध्वकाये चत्वारिंशत् पठति

२ 'हनुसमाख्ये' इति हाराणचन्द्रसंमतः पाठः ।

३ 'जिह्वायां द्वे' इति पा० ।

४ 'चतस्रो नेत्रयोः' इति पा० । ५ 'षट् शिरसि' इति पा० ।

स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा २० मांसपेशियां अधिक होती हैं। इनमें से एक २ स्तन में पांच २। दोनों में मिला कर १० मांसपेशियां। इन मांसपेशियों की यौवनकाल में वृद्धि होती है ॥५०॥

अपत्यपथे[1] चतस्रः—तासां प्रसृतेऽभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे, गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः, शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र[2] एव। पित्तपक्वाशययोर्मध्ये[3] गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति ॥ ५१ ॥

अपत्यमार्ग अर्थात् योनि में चार पेशियां होती हैं। जिनमें से दो अन्दर की ओर से फैली हुई होती हैं और दो जो कि बाहिर की ओर होती हैं मुख पर आश्रित रहती हैं और गोल होती हैं। गर्भच्छिद्र—गर्भाशय के छिद्र अर्थात् योनि के अन्तर्मुख में आश्रित तीन पेशियां हैं। शुक्र और आर्त्तव को प्रविष्ट कराने वाली भी तीन पेशियां हैं।

पित्ताशय तथा पक्वाशय [बृहदन्त्र] के मध्यदेश में गर्भाशय होता है, यहीं पर ही गर्भ की अवस्थिति हुआ करती है॥

तासां बहलपेलव[4]स्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति ॥ ५२ ॥

सन्धि, अस्थि, शिरा एवं स्नायुओं को ढकने वाली इन पेशियों की दृढ़ता अथवा बहुतायत, अतिकोमलता अथवा स्वल्पता, स्थूलता, कृशता, पृथुता [चपटापन], वृत्तता [गोलाई], छोटा होना, दीर्घ होना, स्थिरता, मृदुता, चिकनापन अथवा कर्कशता [खुरदरापन) आदि भाव स्थान के अनुसार स्वभाव से ही हुआ करते हैं ॥५२ ॥

---

१ 'भगापत्यपथे' इति पा०।

२ 'शुक्रार्तवप्रवेशिन्यो गर्भाशये तिस्र एव' इति पा०।

३ स्थूलक्षुद्रान्त्रवचनोऽपि हि पक्वाशयशब्दो मुख्यया वृत्त्या स्थूलान्त्रेषु प्रवर्तत इत्यवश्यं वक्तव्यम्। विशेषेण पक्वानामाहारद्रव्याणामधिष्ठानत्वात्। गर्भाशयस्तु पुनस्तन्मूलभागादूर्ध्वं पित्ताशयाच्चाधः क्षुद्रान्त्रोपरि वर्तते। इति हाराणटीका। गणनाथसेनस्तु शरीरे वस्तिपक्वाशययोर्मध्ये गर्भाशयदर्शनात् 'वस्तिपक्वाशयमध्ये गर्भाशयः' इति पाठः स्वीकरोति। ४ पेलवा अल्पा इति डल्हणः।

भवन्ति चात्र ।

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः[1] ।
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं[2] हि ताः[3] ॥ ५३ ॥

पुरुषों के मेढ्र तथा वृषण देशमें जो पेशियां पहिले कही जा चुकी हैं, वही पेशियां स्त्रियों में अन्तर्गत फल (Ovaries-जो कि गर्भाशय के दोनों ओर होते हैं) को ढके हुए होती हैं ॥ ५३ ॥

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥ ५४ ॥

मर्म शिरा धमनी तथा स्रोतों का विभाग अन्यत्र (षष्ठ, सप्तम तथा नवम अध्याय में) दर्शाया गया है ॥५४॥

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता ।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥

योनि की आकृति शंखनाभि के समान होती है, इसमें तीन आवर्त्त (घुमाव) होते हैं। उस योनि के तीसरे आवर्त में गर्भशय्या स्थित होती है ॥ ५५॥

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः ।
तत्संस्थानां[4] तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार रोहू मछली के मुख का रूप होता है, उसी आकृति वा रूप की गर्भशय्या होती हैं ॥५६॥

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः ।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥ ५७ ॥

स्त्री के गर्भाशय में गर्भ सङ्कुचित अङ्गों वाला तथा अभिमुख रहता है। अर्थात् दर्पण में अपना मुख देखते समय जैसे हमारा प्रति-

---

१ 'लक्षणमुष्कयोः । स्त्रीणामाश्रित्य' इति पा० ।

२ फलं गर्भाशय इति डल्हणः ॥

३ गयदासस्तु, अमुं तन्त्रान्तरीयश्लोकं न पठति; किन्तु 'एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि' इत्यत्र पुंसामिति पदं पठित्वा पुंसामेव पञ्चपेशीशतानि, स्त्रीणां तु तिसृभिरूनानि पञ्चशतानीति व्याख्याति । अत्रार्थे च भोजवाक्यं दृष्टान्तीकरोति । तथाच भोजवाक्यं,— 'पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्जं विद्धि भूमिप । अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः" इति । ४ तत्संस्थानामिति अल्पमुखामन्तर्महासुषिरामित्यर्थः ।

विम्ब अभिमुख रहता है, उसी प्रकार गर्भ का मुख स्त्री की ओर की दिशा में होता है। अर्थात् अन्दर से स्त्री की पीठ की ओर मुख और पेट की ओर पीठ होती है। प्रसव के प्रति स्वभावतः ही आसन परिवर्त्तित होजाता है, और उसका शिर नीचे की ओर आजाता है और योनि से निकलते समय शिर ही पहिले बाहिर आता है, तदनन्तर अन्य अवयव ॥ ५७ ॥

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैषं[1] वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥ ५८ ॥

त्वचा पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर का जो यह अङ्गनिश्चय बताया गया है, वह किन्हीं भी अंगों में शल्यज्ञान (Dissection) के विना निःसंशय रूप से वर्णित नहीं किया जासकता । अर्थात् जैसे शरीर का अंग हाथ तो हमें बाहिर से दीख रहा है, पर इसके अन्दर की हड्डियां, मांसपेशी, स्नायु, शिरा आदि का यथार्थ ज्ञान विना चीर फाड़ के नहीं होसकता ॥ ५८ ॥

तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं[2] हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता ॥
शोधयित्वा मृतं सम्यग्[3]द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥ ५९ ॥

इस लिये शल्य को निकालने वाले शस्त्रचिकित्सक या सर्जन को-जो-कि अङ्गविनिश्चय (Anatomy) के संशयरहित ज्ञान को चाहता है-चाहिये कि वह मुर्दे के शरीर का सम्यक् प्रकार शोधन करके अङ्गविनिश्चय को स्वयं जाने ॥ ५९ ॥

प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत् ॥
[4]समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार जो ज्ञान प्रत्यक्ष-दर्शन से हो, और जो शास्त्र-दर्शन (पठन) से हो, वे दोनों ही यथार्थ ज्ञान की वृद्धि में कारण होते हैं ॥६०॥

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमवहन्त्यामापगायां निवद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कल-

---

१ 'नैव' इति पा० । २ 'ज्ञानमिच्छता शल्यजीविना' इति पा० ।
३ 'तावत्' इति पा० । ४ 'समागतं' द्वयं तत्तु' इति पा० ॥

कुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गप्रत्यङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक्प्रकुथितं चोद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणुवल्कलकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्ष-दर्शन की विधि—अतः प्रत्यक्षदर्शन के लिये जिसकी विष द्वारा मृत्यु न हुई हो, जो किसी लम्बी बीमारी से न मरा हो, जो सौ बरस का बूढ़ा न हो; जिसकी आंतों में से मल को निकाल दिया गया हो-ऐसे मृत पुरुष के शरीर को तेजी से न बहने वाली नदी में बांधकर, पिञ्जरे में रखकर और मूंज, वृक्षछाल, कुश तथा सन; इनमें से किसी एक से अंगों को लपेटकर प्रकाश रहित अथवा गुप्त जगह में सड़ावे। जब अच्छी प्रकार गल जाने से त्वचा आदि ढीली पड़ जांय, तब उसे नदी में से बाहिर निकाल लें। पुनः उस देह को सात दिन तक खस, बाल, बांस या वृक्ष की छाल; इनमें से किसी एक से तय्यार की हुई कूची (Brush) से धीरे २ घिसते हुए, त्वचा आदि सम्पूर्ण बाह्य तथा अन्दर के यथोक्त अंग प्रत्यंगों को आंखों से देखे ॥६१॥

(श्लोकौ चात्र भवतः ।)

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः ॥

दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥ ६२ ॥

परन्तु शरीर में सूक्ष्मतम आत्मा को हम इन आंखों से नहीं देख सकते। वह तो ज्ञानचक्षुओं अथवा तपश्चक्षुओं से ही देखा जाता है ॥ ६२ ॥

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः ॥

दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥ ६३ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

वैद्य को शरीर और शास्त्र में सम्यग् ज्ञान होना चाहिये। और उस चतुर वैद्य को चाहिये कि वह दृष्ट (प्रत्यक्ष-दर्शन) तथा श्रुत [शास्त्र

---

१ 'वल्वज' इति पा० ॥

२ अयं पाठो हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते ॥

दर्शन] से सन्देहों को दूर करके कर्म [चिकित्साकर्म, शस्त्रकर्म] करे ॥ ६३ ॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

इसके बाद अब प्रत्येकमर्मनिर्देश नामक शारीर की व्याख्या करते हैं । अर्थात् इस अध्याय में शरीरगत सम्पूर्ण मर्मों का निर्देश किया जायगा ॥ १ ॥

सप्तोत्तरं मर्मशतम् । तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा- मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति; न खलु मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥ २ ॥

इस मानव देह में मर्म १०७ हैं। ये मर्म पांच प्रकार के हैं— जैसे १- मांसमर्म, २-शिरामर्म, ३-स्नायुमर्म, ४- अस्थिमर्म, और ५-सन्धिमर्म । यतः इन मर्मों के अतिरिक्त अन्य मर्मों की उपलब्धि नहीं होती; अतः हम इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि तथा सन्धि के अतिरिक्त इस देह में अन्य मर्म नहीं हैं ॥ २ ॥

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत्सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि, चेति । तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ॥ ३ ॥

इन में से मांसमर्म—११, शिरामर्म—४१, स्नायुमर्म—२७, अस्थिमर्म—८, सन्धिमर्म—२० हैं । इस प्रकार ये मर्म १०७ होते हैं ॥ ३ ॥

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च

व्याख्यातौ, उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत् ४

अब देश भेद से मर्मों का परिगणन करते हैं—

एक टांग में ११ मर्म हैं; इसी प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में भी पृथक् ग्यारह २ मर्म हैं। अतः चारों शाखाओं में ११×४=४४ मर्म हैं। पेट और छाती में—१२, पीठ में—१४, गर्दन से लेकर ऊपर ३७, इस प्रकार देश भेद से १०७ मर्म हैं॥ ४॥

तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रवस्तिजान्वाण्यूर्वीलोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरत्सक्थि व्याख्यातम् ॥५॥

इन में से ११ सक्थिमर्म (टांग के मर्म) इस प्रकार हैं। १-क्षिप्र, २-तलहृदय, ३-कूर्च, ४-कूर्चशिर, ५-गुल्फ, ६-इन्द्रवस्ति ७—जानु, ८-आणि, ९-ऊर्वी, १०-लोहिताक्ष ११—विटप। ये एक टांग के मर्म हैं, यही दूसरी टांग में भी होते हैं॥ ५॥

उदरोरसोस्तु गुदवस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति॥ ६॥

पेट और छाती के मर्म-गुदा, वस्ति, नाभि, हृदय, दो स्तनमूल, दो स्तनरोहित, दो अपलाप और दो अपस्तम्भ॥ ६॥

पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति॥७॥

पीठ के मर्म-दो कटीकतरुण, दो कुकुन्दर, दो नितम्ब दो पार्श्वसन्धि, दो बृहती, दो अंसफलक और दो अंस॥ ७॥

बाहुमर्माणि तु क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रवस्तिकूर्पराण्यूर्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति; एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः॥ ८॥

बाहुमर्म—१ क्षिप्र, २ तलहृदय, ३ कूर्च, ४ कूर्चशिर, ५ मणिबन्ध, ६ इन्द्रवस्ति, ७ कूर्पर, ८ आणि, ९ ऊर्वी, १० लोहिताक्ष, ११ कक्षधर ये एक बाहु के मर्म हैं। यही दूसरी बाहु में भी होते हैं॥ ८॥

जत्रुण ऊर्ध्वं (मर्माणि) चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृकाः, द्वे कृकाटिके, द्वे विधुरे, द्वे फणे, द्वावपाङ्गौ, द्वावावर्तौ, द्वावुत्क्षेपौ, द्वौ शङ्खावेका स्थपनी,

१०'स्तनरोहितापस्तम्भावपलापौ चे'ति इति पा०।

पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति ॥ ९ ॥

जत्रूर्ध्वगत मर्म—चार धमनियां, आठ मातृकायें, दो कृकाटिका, दो विधुर, दो फण, दो अपाङ्ग, दो आवर्त्त, दो उत्क्षेप, दो शंख, एक स्थपनी, पांच सीमन्त, चार शृङ्गाटक, एक अधिपति ॥ ९ ॥

तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि ॥ १० ॥

अब इन्हीं मर्मों को मांसमर्म आदि पांच प्रकार के विभाग में बांटकर दिखाया हैः—

मांसमर्म--चार तलहृदय (हाथ पैर में), चार इन्द्रवस्ति (टांग और बाहु में), गुदा (उदर मर्मों में), दो स्तनरोहित (उरोमर्मों में) ॥ १० ॥

नीलधमनीमातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनमूलापलापापस्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरामर्माणि ॥ ११ ॥

शिरामर्म--दो नीला (ग्रीवामर्म, इन्हें पूर्व धमनियों में ही गिना गया है), दो धमनियां (ग्रीवामर्म), आठ मातृका (जत्रूर्ध्वगत मर्म), चार शृङ्गाटक (शिरोगत), दो अपाङ्ग (जत्रूर्ध्वगत, आंख का मर्म), एक स्थपनी (शिरोगत), दो फण (जत्रूर्ध्वगत), दो स्तनमूल (उरोगत), दो अपलाप (जत्रूर्ध्वगत), दो अपस्तम्भ (जत्रूर्ध्वगत), हृदय, नाभि, दो पार्श्व सन्धि (पृष्ठमर्म), दो बृहती (पृष्ठमर्म) चार लोहिताक्ष (टांग एवं बाहुगत), चार ऊर्वी (टांग और बाहुगत) ॥ ११ ॥

आणीविटपकक्षधरकूर्चकूर्चशिरोबस्तिक्षिप्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि ॥ १२ ॥

स्नायुमर्म—चार आणि (टांग और बाहुगत), दो विटप (सक्थिगत) दो कक्षधर (बाहुगत), चार कूर्च (हाथ पैर के मर्म), चार कूर्चशिर (हाथ पैर के मर्म), बस्ति (उदरगत), चार क्षिप्र (हाथ पैर के मर्म), दो अंस (पृष्ठमर्म), दो विधुर (जत्रूर्ध्वगत), दो उत्क्षेप [जत्रूर्ध्वगत] ॥ १२ ॥

---

१ 'इमे सिरामर्मणी, 'ग्रीवायां षोडश अव्यध्याः' इत्यत्र डल्हणेनैव विधुरयोः षोडशसंख्यायामेव परिगणनं कृतं, स्नायुमर्मसु गणनं तु प्रतिसंस्कर्तृदोषदूषितं प्रतिभाति' इति रसयोगसागरस्य उपोद्घाते हरिप्रपन्नः ।

कटीकतरुणनितम्बांसफलकशङ्खास्त्वस्थिमर्माणि ॥ १३ ॥

अस्थिमर्म--दो कटीकतरुण (पृष्ठगत), दो नितम्ब [चूतड़], दो अंसफलक [पृष्ठगत], दो शंख [शिरोगत] ॥ १३ ॥

जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिबन्धकुकुन्दरावर्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि ॥ १४ ॥

सन्धिमर्म-दो जानु [गोडे, टांग के मर्म], दो कूर्पर (कोहनी, बाहुगत मर्म), पांच सीमन्त [शिरोगत], एक अधिपति [शिरोगत], दो गुल्फ [पादगत], दो मणिबन्ध [हस्तगत], दो कुकुन्दर [पृष्ठमर्म] दो आवर्त्त [जत्रूर्ध्वगत], दो कृकाटिका [जत्रूर्ध्वगत] ॥ १४ ॥

तान्येतानि पञ्चविकल्पानि मर्माणि भवन्ति । तद्यथा—सद्यःप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणीति । तत्र सद्यः प्राणहराण्येकोनविंशतिः, कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, त्रीणि विशल्यघ्नानि, चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति ॥ १५ ॥

ये मर्म परिणाम भेद से पांच प्रकार के होते हैं । जैसे १-सद्यः प्राणहर [तत्काल प्राणों को हरने वाले], २-कालान्तर में प्राणों को हरने वाले, ३-शल्य के एक वार वहां प्रविष्ट होजाने के बाद उस शल्य के निकालने से प्राणों को हरने वाले, ४-विकलता उत्पन्न करने वाले। ५-वेदना करने वाले । इन में सद्यःप्राणहर मर्म १९ हैं, कालान्तर में प्राण हरने वाले ३३, शल्य निकालने से घातक ३, विकलता उत्पन्न करने वाले ४४, रुजा [दर्द, वेदना] कर मर्म ८ हैं ॥ १५ ॥

भवन्ति चात्र ।

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम् ।
हृदयं वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥ १६ ॥

सद्यःप्राणहर मर्मः—चारों शृङ्गाटक (शिरोगत मर्म), अधिपति (शिरोगत मर्म), दोनों शङ्ख (शिरोगत मर्म), कण्ठशिरायें (आठों मातृकायें), गुदा, हृदय, वस्ति, नाभि; इन मर्मों पर चोट लगने से सद्यः मृत्यु होजाती है ॥ १६ ॥

वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रवस्तयः ।

कटीकतरुणे सन्धी पार्श्वजौ बृहती च या ॥
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु ॥१७॥

कालान्तरप्राणहर मर्म—छाती के मर्म अर्थात् दो स्तनमूल, दो स्तनरोहित, दो अपलाप तथा दो अपस्तम्भ; पांच सीमन्त [शिरोगत मर्म], चार तलहृदय [हाथ पांव के मर्म], चार क्षिप्र [हाथ पांव के मर्म], चार इन्द्रवस्ति [जंघागत मर्म], दो कटीकतरुण [पृष्ठ-मर्म], दो पार्श्वसन्धियां, दो बृहती, दो नितम्ब [पृष्ठ गत मर्म]; इन मर्मों पर चोट लगने से कालान्तर में मृत्यु हुआ करती है ॥१७ ॥

उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत् ॥१८॥

विशल्यघ्न मर्म—दो उत्क्षेप [जत्र्वूर्ध्वगत] तथा एक स्थपनी [शिरोगत मर्म], ये तीन मर्म ऐसे हैं, जहां से शल्य निकालने पर मृत्यु होजाया करती है ॥ १८ ॥

लोहिताक्षाणिजानूर्वीकूर्चविटपकूर्पराः ।
कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥ १९ ॥
असांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणे तथा ।
वैकल्यकरणान्याहुरावर्तौ द्वौ तथैव च ॥ २० ॥

वैकल्यकर मर्म—चार लोहिताक्ष [सक्थि बाहुगत], चार आणि, दो जानु [घुटने], चार ऊर्वी [सक्थि बाहुगत], चार कूर्च [हस्तगत], दो विटप [सक्थिगत], दो कूर्पर [कोहनी], दो कुकुन्दर [पृष्ठमर्म], दो कक्षधर (बाहुगत), दो विधुर (जत्रूर्ध्वगत), दो कृकाटिका (जत्रूर्ध्वगत), दो अंस (पृष्ठगत), दो अंसफलक (पृष्ठगत), दो अपाङ्ग (जत्रूर्ध्वगत, आंख के सिरे पर), दो नीला (ग्रीवागत), दो मन्या (ग्रीवागत) दो फण (जत्रूर्ध्वगत), तथा दो आवर्त्त (जत्रूर्ध्वगत); ये ४४ वैकल्यकर मर्म कहे गये हैं ॥ १९–२० ॥

गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ द्वे द्वे कूर्चशिरांसि च ॥
रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान् ॥२१ ॥

रुजाकर मर्म—दो गुल्फ (टखने), दो मणिबन्ध (कलाई) और चार कूर्चशिर (हस्तपाद गत); इन आठ मर्मों को बुद्धिमान् वैद्य रुजाकर जाने ॥२१॥

क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ॥ २२ ॥

क्षिप्र नामक मर्मों पर वेधन होने मात्र से ही कालान्तर में मृत्यु होजाती है ॥ २२ ॥

मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपाताः; तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति; तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते ॥ २३ ॥

मर्म का लक्षण—मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि; इनका जिस स्थल पर व्यस्त समस्त रूप से (परस्पर पृथक् २ अथवा मिलित रूप से) मेल हो, वह मर्म कहाता है। इन मर्मों में स्वभावतः ही विशेष कर प्राण रहते हैं, अत एव इन पर चोट लगने से मृत्यु, विकलता, अत्यन्त वेदना आदि हुआ करती हैं ॥ २३ ॥

तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति; कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति; विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते (पाकात्पतितशल्यो वा जीवति[1]); वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति; रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, विशेषतश्च[2] तौ रुजाकरौ, पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुरेके २४

इन पञ्चविध मर्मों में से सद्यःप्राणहर मर्म आग्नेय हैं। अत एव इन पर चोट लगने से अग्निगुणों के शीघ्र नष्ट होजाने पर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। कालान्तर में प्राणों को हरने वाले मर्म सौम्य (सोम-जल गुण-वाले) और आग्नेय [अग्निगुण वाले] होते हैं । अतः अग्निगुणों के शीघ्र नष्ट होजाने पर और शनैः २ क्रमेण सोमगुणों के क्षीण होजाने से ये मर्म कालान्तर में मृत्यु का कारण बनते हैं । विशल्यघ्न मर्म वायव्य होते हैं। जब तक इन मर्मों का वायु शल्य के मुख से रुका रहता है तब-तक पुरुष जीता है। इस शल्य के निकालते ही मर्मस्थान में आश्रित वायु

---

१ अयं पाठः केषुचित्पुस्तकेषु नोपलभ्यते । २ 'विशेषेण' इति पा० ।

बाहिर निकल जाता है। अत एव ही शल्य युक्त पुरुष जीता रहता है और शल्य को निकालते ही मृत्यु होजाती है। विकलता उत्पन्न करने वाले मर्म सौम्य होते हैं। स्थिरता तथा शीतलता ये सोम—जल के गुण हैं, अत एव इन मर्मों पर अभिघात से भी प्राण नाश नहीं होता और प्राण स्थिर रहते हैं। रुजाकर मर्म अग्निगुण और वायुगुण प्रधान होते हैं, ये दोनों—अग्नि और वायु, विशेषतः वेदना को पैदा करने वाले हैं। कुछ आचार्य रुजा [वेदना] को पाञ्चभौतिक [आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन पांच महांभूतों से उत्पन्न होने वाली] मानते हैं ॥२४॥

केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां[1] च समवायात् सद्यः प्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा[2] कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि[3], त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं यतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु[4] शोणितागमनं भवति२५

कई आचार्य कहते हैं—कि मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि इन पांचों के बढ़े हुओं के समवाय [संयोग] होने से उन्हें सद्यः प्राणहर कहा जाता है। अर्थात् सद्यःप्राणहर मर्मस्थलों पर अत्यधिक मात्रा में मांस आदि पांचों का समस्त [मिलित] रूप से मेल होता है। यदि इन पांचों में से एक कम अर्थात् चार का मेल हो अथवा पांचों का ही अल्प मात्रा में मेल हो तो, उसे कालान्तर में प्राणहर जानना चाहिये। यदि दो कम अर्थात् तीन का मेल हो तो, उसे विशल्यघ्न जानना चाहिये। यदि तीन कम अर्थात् दो का मेल हो तो उन्हें वैकल्यकर जानना चाहिये। यदि एक ही का मेल हो तो रुजाकर मर्म होगा। परन्तु यह बात ठीक नहीं क्योंकि अस्थिमर्मों पर चोट लगने से रक्त खून निकलने लगता है; जिसका अभिप्राय यह है कि मर्मों में मांसादि पांचों ही हुआ करते हैं। अन्यथा अस्थिमर्म पर चोट लगने से रक्तस्राव नहीं होना चाहिये ॥२५॥

भवन्ति चात्र।

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः ॥

---

१ 'समवृद्धानां' इति पा०। २ 'च' इति पा०। ३ 'विशल्यघ्नानि०'। इति पा० ४ 'यतश्चैवमतो' इति पा०।

स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन् संतर्प्य देहं प्रतिपालयन्ति ॥ २६ ॥

शरीर में जो चारों प्रकार की (वात-पित्त-कफ-रक्त-वहा) शिरायें हैं, वे प्रायः विशेषतया मर्मों से सम्बद्ध हैं। ये शिरायें स्नायु, अस्थि, मांस तथा सन्धियों का सन्तर्पण—पोषण करके देह का परिपालन करती हैं ॥ २६ ॥

ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः समन्ततो वायुरभिस्तृणोति ॥
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥२७।

मर्म पर चोट लगने पर प्रवृद्ध हुआ २ वायु चारों ओर से उन शिराओं को आच्छादित कर लेता है। इस प्रकार बढ़ता हुई वह वायु शरीर में तीव्र वेदनाओं को पैदा करता है ॥ २७ ॥

रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा ॥
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन्मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥२८॥

फिर तीव्र वेदनाओं से पीडित हुआ २ शरीर डूबता हुआ अथवा नष्ट होता हुआ मालूम होता है और वह बेहोश होजाता हैं। अतः शल्य को निकालने की इच्छा वाले वैद्य को चाहिये कि यत्न द्वारा मर्मों की परीक्षा करके शल्य को बाहिर निकाले ॥ २८ ॥

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥ २९ ॥

इसी से ही अवशिष्ट को समझ लेना चाहिये ॥ २९ ॥

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति विशल्यप्राणहरं च, वैकल्यकरं कालान्तरं क्लेशयति रुजां च करोति, रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति ॥३०॥

इनमें से सद्यःप्राणहर मर्मों के यदि एक सिरे पर अथवा समीप वेधन हो तो वह कालान्तर में घातक होता है। कालान्तरप्राणहर मर्म एक सिरे पर अथवा समीप विद्ध होने से विकलता उत्पन्न करता है। इसी प्रकार विशल्यघ्न मर्म भी समीप विद्ध होने पर विकलता उत्पन्न करते हैं। वैकल्यकर मर्मों का एक सिरा अथवा समीप विद्ध होने पर वे कालान्तर

१ प्रतियापयन्ति' इति पा० । २ 'पुनः' इति पा० । ३ 'विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं क्लेशयति कालान्तरेण च रुजां करोति' इति पा० ।

में क्लेश देते हैं, और वेदना होती है। यदि रुजा कर मर्म के एक सिरे पर अथवा समीप चोट हो तो उसमें वेदना तीव्र नहीं होती, हलकी होती है ॥ ३० ॥

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥ ३१ ॥

सद्यःप्राणहर सात दिन के अन्दर २ मार देते हैं। कालान्तरप्राणहर मर्म एक पक्ष (१५ दिन) अथवा एक महीने के अन्दर २ मारते हैं। इनमें से भी क्षिप्र नामक मर्म कदाचित् शीघ्र मृत्यु का कारण होते हैं। विशल्यघ्न और वैकल्यकर मर्मों पर भी अत्यधिक चोट लगने से कभी २ मृत्यु होजाती है ॥ ३१ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रत्येकशो मर्मस्थानानि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं[1] नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणम् ॥३२॥

इसके बाद अब प्रत्येक मर्म के स्थान का वर्णन किया जाता है—

क्षिप्र-स्थान—पांव के अंगूठे और साथ की अंगुली के मध्य देश में क्षिप्र नामक मर्म है। इस मर्म के विद्ध होने से आक्षेप होकर मृत्यु होती है ॥ ३२ ॥

मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम[2], तत्रापि रुजाभिर्मरणम् ॥ ३३ ॥

तलहृदय-स्थान—मध्यम अंगुली के सीध में पांव की तल के मध्य में तलहृदय नामक मर्म है। उसके विद्ध होने पर वेदनाओं से मृत्यु होती है ॥ ३३ ॥

क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चो नाम, तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः ॥ ३४ ॥

कूर्च-स्थान—क्षिप्र से ऊपर दोनों ओर अर्थात् पादपृष्ठ और पाद-

१ 'क्षिप्रमिति मर्म' इति पा०। २ अत्र 'नाम' इति हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते, एवमग्रेऽपि।

तल में कूर्च नामक मर्म हैं । वहां पर चोट से पांव घूमता और कांपता है। यह मर्म क्षिप्र से दो अंगुल ऊपर की ओर होता है। तन्त्रान्तर में कहा है—तस्योद्र्ध्वं द्वयङ्गुले कूर्चः ॥ ३४ ॥

गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरो नाम तत्र रुजाशोफौ ॥३५॥

कूर्चशिर-स्थान—गुल्फ नामक सन्धि से नीचे दोनों ओर अर्थात् बाहिर और अन्दर की ओर कूर्चशिर नामक मर्म हैं। वहां पर चोट से वेदना और शोफ (सूजन वा Inflammation) हुआ करते हैं ॥ ३५ ॥

पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा ॥ ३६ ॥

गुल्फ-स्थान—पैर और जंघा के जोड़ पर गुल्फ नामक मर्म है। वहां पर विद्ध होने से वेदनाएं, पादस्तम्भ (पैर का स्तब्ध-जड़वत् होना) अथवा लंगड़ापन होता है ॥ ३६ ॥

पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणम् ॥ ३७ ॥

इन्द्रवस्ति-स्थान—पार्ष्णि (एड़ी) की ओर से (पिछली ओर से) जंघा के मध्य में (पिण्डली में) इन्द्रवस्ति नामक मर्म है। यहां पर वेध होने से रक्तनिर्गम होकर मृत्यु होजाती है ॥ ३७ ॥

जङ्घोर्वोः[1] सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता ॥ ३८ ॥

जानु-स्थान—जङ्घा और ऊरु के जोड़ पर जानु नामक मर्म है। यहां पर चोट से खञ्जता (लंगड़ापन) होती है ॥ ३८ ॥

जानुन[2] ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी नाम, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च ॥ ३९ ॥

आणि-स्थान—जानु (घुटने) से दो तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर (अन्दर बाहिर) आणि नामक मर्म है। यहां पर अत्यन्त शोफ (सूजन) तथा टांग स्तब्ध (जड़वत्) हो जाती है ॥३९॥

ऊरुमध्ये ऊर्वी नाम, तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः ॥४०॥

१ 'मध्यमाङ्गुलीमानुपूर्व्येण जङ्घोर्वोः' इति पा० ।

२ 'जानुसन्धेरुभयतस्त्र्यङ्गुले' इति पा० ।

ऊर्वी-स्थान—ऊरू के मध्य में ऊर्वी नामक मर्म है। यहां पर विद्ध होने से रक्त के क्षय से टांग सूख जाती है ॥ ४० ॥

ऊर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसंधेरूरुमूले लोहिताक्षं नाम, तत्र लोहितक्षयेण पक्षाघातः सक्थिशोषो वा ॥ ४१ ॥

लोहिताक्ष-स्थान—ऊर्वी नामक मर्म से ऊपर वङ्क्षणसन्धि से नीचे ऊरु के जड़ में लोहिताक्ष नामक मर्म है। यहां पर रक्तक्षय से पक्षाघात होजाता है। अथवा टांग सूख जाती है ॥ ४१ ॥

वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम, तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति; एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥ ४२ ॥

विटप-स्थान—वङ्क्षण (रान) और वृषण (अण्डकोष) के मध्य स्थल पर विटप नामक मर्म है। यहां पर षाण्ढ्य (नपुंसकता, Impotency) या अल्पशुक्रता (वीर्य का कम होना Oligospermia) होजाती है। इस प्रकार टांग के ग्यारह मर्मों का व्याख्या कर दी गई है। इसी से ही दूसरी टांग और दोनों बाहु के मर्मों की व्याख्या भी होगई ॥४२॥

विशेषतस्तु यानि साक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि; यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः; विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥ ४३ ॥

विशेषता केवल इतनी ही है कि टांग में जो २ गुल्फ, जानु और विटप नामक मर्म हैं, उनकी जगह बाहु में क्रमशः मणिबन्ध, कूर्पर और कक्षधर नामक मर्म हैं। जैसे रान और वृषण के मध्यस्थल में विटप नामक मर्म हैं, वैसे ही छाती और कक्षा के बीच में कक्षधर मर्म है; इसके विद्ध होने पर वही उपद्रव होते हैं। विशेषतः मणिबन्ध में कुण्ठता (हाथ को न हिला सकना), कूर्पर (कोहनी) मर्म में लूलापन और कक्षधर में विद्ध होने से पक्षाघात होता है। इस प्रकार शाखाओं के

१ 'ऊरुमध्ये लोहिताख्यं' इति पा०। २ 'लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा' इति पा०।

४४ मर्मों की व्याख्या होगई ॥ ४३ ॥

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः—तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम् ॥ ४४ ॥

इसके बाद पेट और छाती के मर्मों की व्याख्या होगी—

गुदा-स्थान—इनमें से मलवात और वर्च (पाखाना) को निकालने वाला, बड़ी आंत (Large intestine) से जुड़ा हुआ गुदा नामक (Rectum) मर्म है। यहां पर वेध होने से सद्यः मृत्यु होजाती है। वस्तुतः मर्म देश तो गुदा का ऊर्ध्व प्रदेश ही है क्योंकि वहीं पर शिरादि सन्निपात है। अधोदेश—जो कि शिरा-आदि के सन्निपात से रहित है वहां भगन्दर आदि में शस्त्रचिकित्सा करते हुए भेदन च्छेदन आदि किया ही जा सकता है ॥ ४४ ॥

अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति ॥ ४५ ॥

वस्ति-स्थान—कटि देश में अन्दर की ओर स्वल्प मांस और स्वल्प ही रक्तवाला मूत्राशय है। इसका नाम वस्ति भी है। यह भी मर्म है। यहां पर अश्मरी व्रण के अतिरिक्त दूसरे छिन्न, भिन्न, विद्ध आदि से सद्यः ही मृत्यु होजाती है। परन्तु अश्मरी (पथरी) के कारण भी दोनों ओर भिन्न होजाय तो तत्काल मृत्यु होजाती है। यदि एक ओर से ही कटे तो मूत्र स्रावी व्रण होजाता है; जिसका कि यत्न से चिकित्सा करने पर रोहण हुआ करता है ॥ ४५ ॥

पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तत्रापि सद्यो मरणम् ॥४६

नाभि-स्थान—पक्वाशय और आमाशय के मध्य में शिराओं का उत्पत्ति-स्थान नाभि नामक मर्म है। यहां पर भी विद्ध होने से सद्यः ही मृत्यु होती है। यह मर्म गर्भशरीर विषयक ही समझना चाहिये। क्योंकि

---

१ 'मर्मस्थानान्यनुव्याख्यास्याम.' इति पा०।

२ कट्यामित्युपलक्षणं तेन नाभिपृष्ठमुष्कगुदवङ्क्षणशेफांसि गृह्यन्ते। तदुक्तं—
नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसाम्। एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बास्तिरधोमुखः॥
इति डल्हणः।

प्रसवानन्तर शिशु के नाडीच्छेदन के बाद इसका विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है, और उस समय यह कोई कर्म नहीं करती ॥ ४६ ॥

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणम् ॥ ४७ ॥

हृदय स्थान—छाती में दोनों स्तनों के मध्य देश में आमाशय के द्वार तक (अथवा आमाशय के अभिमुख है द्वार अर्थात् द्वाराकार भाग जिसका) सत्त्व, रज तथा तम का आश्रय हृदय नामक मर्म है। वहां पर विद्ध होने से सद्यः ही मृत्यु होती है। इसके स्थान को अच्छी प्रकार समझने के लिये हम इस प्रकार कह सकते हैं कि उरोऽस्थि (Sternum) पर जहां तृतीय पर्शुकास्थि (पसली) का संयोग होता है, वहां से १" इञ्च दक्षिण की ओर हृदय का मूल देश होता है, और हृदय का निम्न भाग वाम चूचुक से २" इञ्च नीचे और १" इञ्च शरीर की मध्यरेखा की ओर छठी पर्शुकास्थि के पास ही होता है ॥ ४७ ॥

स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले[2] नाम (मर्मणी[3]), तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां म्रियते ॥ ४८ ॥

स्तनमूल-स्थान—स्तनों से नीचे दो अंगुल दोनों ओर स्तनमूल नामक मर्म हैं। यहां पर कोष्ठ अर्थात् फुप्फुस के कफ से भर जाने के कारण तथा कास और श्वास से मृत्यु हुआ करती है। जैसाकि फुप्फुस-शोथ अथवा कफोल्वणसन्निपात (Pneumonia) में देखा जाता है। यह स्तनमूल वस्तुतः फुप्फुस का नीचे का भाग है ॥ ४८ ॥

स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः[1] स्तनरोहितौ नाम, तत्र लोहित-पूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते ॥ ४९ ॥

स्तनरोहित-स्थान—स्तनचूचुकों से दो अंगुल ऊपर दोनों ओर स्तनरोहित नामक मर्म हैं, यहां कोष्ठ-फुप्फुस के रक्त से भर जाने के कारण

---

१ 'स्तनचूचुकयोर्मध्ये स्तनरोहितौ' इति पा०।

२ स्तनमूललक्षणे 'स्तनयोरूर्ध्वं' इति, स्तनरोहितलक्षणे च स्तनचूचुकयोरधस्तात्' इति च रसयोगसागरस्योपद्घाते हरिप्रपन्नेन संशोधितः। विशेषविवरणं तु तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३ 'मर्मणी' इति हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते। ४ 'स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलात् स्तनरोहिते। अर्धाङ्गुलमिते मांसमर्मणी परिकीर्तिते ॥ रक्तपूरितकोष्ठस्य कालान्मरणकारिणी" इति ॥

तथा कास और श्वास से मृत्यु होती है। यह वह स्थल है, जहां पर फुप्फु-सीया धमानियां (Pulmonary arteries) व फुप्फुसीया शिरायें (Pulmonary Veins) फुप्फुस में प्रविष्ट होती व निकलती हैं ॥ ४९ ॥

अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम् ॥ ५० ॥

अपलाप-स्थान—दोनों अंसकूटों के नीचे, पार्श्व के ऊपर के भागों पर अपलाप नामक मर्म हैं। यहां जब रुधिर पूय (Pus) भाव को प्राप्त होता है, तब मृत्यु होती है। ये स्थान वस्तुतः फुप्फुस के ऊपर के भाग (Apex) हैं। राजयक्ष्मा (Pthisis) में यही भाग पहिले आक्रान्त होता है॥ ५० ॥

उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्ण-कोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि-व्याख्यातानि ॥ ५१ ॥

अपस्तम्भ-स्थान—छाती के दोनों ओर वातवहा नाडियां अपस्तम्भ नाम की हैं, वहां पर विद्ध होने से कोष्ठ के वातपूर्ण होजाने के कारण तथा कास और श्वास से मृत्यु होती है। इस प्रकार उदर और छाती के बारह मर्मों की व्याख्या होगई॥ ५१ ॥

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः[1]--तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी[2] कटीकतरुणे नाम मर्मणी[3], तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च[4] म्रियते ॥ ५२ ॥

अब पीठ के मर्मों की व्याख्या की जायगी—

कटीकतरुण-स्थान—पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के दोनों ओर श्रोणि के दोनों भागों में (दक्षिण तथा वाम भाग में) कटीकतरुण नाम की अस्थियां मर्म हैं, यहां पर विद्ध होने से रक्त का क्षय होता है और वह पुरुष, पाण्डु, विवर्ण तथा हीनरूप होकर मरता है॥ ५२ ॥

---

१ 'अनुव्याख्यास्यामः' इति पा०। २ प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यत्र 'प्रतिश्रोणिकर्णौ' इति केचित् पठन्ति। ३ 'नाम मर्मणी' इति हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते। ४ 'हीनदेहश्च' इति पा०।

पार्श्वजंघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च ॥ ५३ ॥

कुकुन्दर-स्थान—वाम जघनास्थि (वाम कटिकपालास्थि) तथा दक्षिण जघनास्थि के बाहिर के भाग में पृष्ठवंश के दोनों ओर, थोड़े से निम्न कुकुन्दर नाम के मर्म हैं, वहां पर चोट से स्पर्शाज्ञान तथा शरीर के नीचे के भाग (टांग आदि) में चेष्टानाश (कर्म में असमर्थता) होता है। यद्यपि यह सन्धिमर्म है, परन्तु सन्धि पर चोट से वहां से गुजरने वाली वातनाडियों को चोट पहुंचती है, जिसके फलस्वरूप स्पर्शाज्ञान तथा चेष्टा-नाश होता है। सन्धिमर्म इसी लिये है कि यहां की नाडियां अस्थिसन्धि से आच्छादित रहती हैं। सन्धि को चोट लगे विना इस पर अभिघात नहीं हो सकता। यहां पर यह जान लेना चाहिये कि जघन शब्द यद्यपि स्त्रीकटि के पुरोभाग का मुख्यतः वाचक होता है; परन्तु यहां जघन शब्द से कटि-सामान्य ही अभिप्रेत है ॥ ५३ ॥

श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम् ॥ ५४ ॥

नितम्ब-स्थान—श्रोणि के काण्ड (वामदक्षिण भाग) के ऊपर आशय अर्थात् वंस्तिगह्वर अथवा वहां पर स्थित पक्वाशय को आच्छादित करने वाले, पृथक् पार्श्वों से बंधे हुए दो नितम्ब (चूतड़) हैं। वहां विद्ध होने से अधःकाय (टांग आदि) का सूख जाना तथा दुर्बलता होकर मृत्यु होजाती है ॥ ५४ ॥

---

१ पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंज्ञकयोः, जघनबहिर्भाग इति कट्याः पश्चाद्भागे। गयी तु पार्श्वजघनभागे इति पठित्वा 'पार्श्वयोर्जघनभागेऽधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे' इति व्याख्याति।

२ 'नाम मर्मणी' इति हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते।

३ अन्यानि पार्श्वाणि पार्श्वान्तराणि श्रोणिकाण्डगतयोरस्थ्नोश्चतुष्पार्श्वानीति यावत्, तै र्दृढमासक्तौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ, ऊर्ध्वाधःसंयोगसचिवौ नितम्बौ। इति हाराणः। डल्हणस्तु पार्श्वमध्ये प्रतिबद्धौ इत्याह।

अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ[1] जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते॥ ५५ ॥

पार्श्वसन्धि-स्थान—जघनास्थि से तिरछा और ऊपर की ओर जघन के पार्श्व और मध्य में अधिष्ठित होकर श्रोणि के नीचे के पार्श्व के छिद्रों से बंधे हुए पार्श्वसन्धि (नाम की दो शिरायें) नामक मर्म हैं । वहां पर विद्ध होने पर कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है ॥५५॥

स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ[2] नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते ॥ ५६ ॥

बृहती-स्थान—दोनों स्तनमूलों से यदि एक २ शलाका सीधी विद्ध करके पीठ की ओर निकाल दें, तो जिन स्थलों पर पृष्ठवंश के दोनों ओर ये शलाकायें निकलेंगी, वह ही बृहती मर्मों का स्थान है । इस मर्मस्थल पर विद्ध होने से रक्त के अतिमात्रा में निकलने आदि उपद्रवों से मृत्यु होजाती है ॥ ५६ ॥

पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ[3] ॥ ५७ ॥

अंसफलक-स्थान—पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिकास्थि (अक्षकास्थि,प्रगण्डास्थि तथा अंसफलकास्थि—Scapula; ये तीनों जहां पर मिलती हैं) में सम्बद्ध अंसफलक नामक मर्म हैं । वहां पर चोट आदि से बाहुओं का सोजाना अथवा बाहुशोष होजाता है ॥ ५७ ॥

---

१ अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ अधोभागे यत्पार्श्वान्तरं मध्यं तत्प्रतिबद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्यौ मध्यौ वामदक्षिणौ भागौ तयोः, तिर्यगूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पर्शुकानां क्रमवृद्धेः सन्धेरपि तिर्यगूर्ध्वत्वं, जघनादिति ल्यपि लुप्ते पञ्चमीयं, तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसन्धी सिरामर्मणी। इति डल्हणव्याख्या।

सम्प्रति पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वात्तिर्यग्भावेन कटिकपालयोः पार्श्वं मध्यञ्चाधिष्ठाय कुकुन्दरमध्यतोऽधः प्रसृते द्वे सिरे पार्श्वसन्धीति प्रसिद्धे इत्याह अध इति-अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायौ। तथा अधः पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ कुकुन्दरप्रतिबद्धाविति तात्पर्यम्। जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च, तथा जघनात्तिर्यगूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत्, सिरामर्मत्वेनोपदेशात् वर्तमानौ स्नायुसहकृतौ सिराविशेषौ पार्श्वसन्धी नामेति प्रत्येतव्येम्। इति हाराणटीका।

२ बृहती इति पा० । ३ 'स्वापः शोषो वा' इति पा० ।

बाहुमूर्धग्रीवामध्येंऽसपीठस्कन्धंनिबन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तब्धबाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ५८ ॥

अंस-स्थान—बाहु-शिर (कन्धा) और गर्दन के मध्यस्थल में अंसपीठ और कन्धे को बांधने वाले अंस नामक स्नायु मर्म है। वहां पर चोट से बाहुस्तम्भ होजाता है। इस प्रकार १४ पृष्ठमर्मों की व्याख्या करदी गई है ॥५८॥

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन[1], तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च ॥ ५९ ॥

इसके पश्चात् ऊर्ध्वजत्रगत मर्मों की व्याख्या होगी—

चार धमनियों का स्थान—कण्ठनाडी (Trachea) के दोनों ओर चार धमानियां हैं। अर्थात् दो नीला और दो मन्या व्यत्यास से हैं, अर्थात् दोनों पासे एक नीला और एक मन्या है। वहां पर चोट आदि से मूकता (गूंगापन), स्वर का बिगड़ जाना, रस ज्ञान का न होना, होता है ॥ ५९ ॥

ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः[2] सिरा मातृकाः, तत्र सद्योमरणम् ॥६०॥

मातृका-स्थान—गर्दन के दोनों ओर चार २ शिरामातृकायें हैं। वहां पर विद्ध होने से सद्यः मृत्यु होजाती है ॥ ६० ॥

शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥ ६१ ॥

कृकाटिका-स्थान—शिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम के दो मर्म हैं। वहां पर चोट से चलमूर्द्धता (शिर का हिलते रहना) होती है ॥ ६१ ॥

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र बाधिर्यम् ॥ ६२ ॥

विधुर-स्थान—कर्णपृष्ठ से नीचे दोनों ओर विधुर (स्नायु) नाम का एक २ मर्म है। वहां पर चोट से बधिरता (बहरापन) होजाती है ॥ ६२ ॥

घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाज्ञानम् ॥ ६३ ॥

---

१ 'नाम व्यत्ययेन' इति पा० । २ 'चतस्रश्चतस्रः' इति पा० ।

फण-स्थान—घ्राणमार्ग के दोनों ओर अन्दर स्रोतोमार्ग में बंधे हुए (स्रोतोमार्ग की त्वचा से आवृत) फण नामक मर्म हैं। वहां पर विद्ध होने से गन्धज्ञान नहीं होता ॥ ६३ ॥

भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा ॥ ६४ ॥

अपाङ्ग-स्थान—भ्रूपुच्छ (भौंहों का बाह्य पुच्छाकार भाग) के सिरों के नीचे आंखों के बाह्य सिरे पर अपाङ्ग नामी मर्म हैं। वहां पर चोट लगने से आन्ध्य (अन्धापन) तथा दृष्टि क्षीण होजाती है ॥ ६४ ॥

भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा॥६५॥

आवर्त्त-स्थान—भौंहों के निम्नभाग (अर्थात् भ्रूपुच्छ) के ऊपर आवर्त्त नाम के मर्म हैं, यहां पर भी चोट से आन्ध्य तथा दृष्टि खराब होजाती है। यह स्थल शंखास्थि का सन्धिस्थल है ॥ ६५ ॥

भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि[1] कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणम् ॥ ६६ ॥

शंख-स्थान—भौंहों की पूंछ वाले सिरे के ऊपर कर्ण (कान) और और मस्तक के बीच शंख नामक मर्म स्थल हैं। वहां पर चोट से सद्यः मृत्यु होजाती है ॥ ६६ ॥

शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति, पाकात् पातितशल्यो वा, नोद्धृतशल्यः ॥ ६७ ॥

उत्क्षेप-स्थान—शंख के ऊपर जिस स्थल पर केश समाप्त हो जाते हैं, वहां पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं। वहां पर यदि कोई शल्य चुभ जाय और उसे न निकाला जाय अथवा स्वयं पक कर गिर जाय तब तो वह जीता रहेगा। शल्य को निकालने से मृत्यु होगी ॥ ६७ ॥

भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत् ॥ ६८ ॥

स्थपनी-स्थान—दोनों भौंहों के बीच में अर्थात् नाक के ऊपर मस्तक में स्थपनी नामक मर्म है। यहां पर भी शल्यप्रवेश का परिणाम उत्क्षेप-

---

१ 'भ्रुवोरन्तोपरि' इति पा०।

वत् ही होता है। अर्थात् शल्य को यहां पर भी न निकालना चाहिये, अन्यथा मृत्यु होगी। इसे पका कर गिराने का प्रयत्न करना चाहिये ॥६८॥

पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणम् ॥ ६९ ॥

सीमन्त-स्थान—शिरोऽस्थि की पांच सन्धियां, सीमन्त नामक मर्म हैं। वहां पर उन्माद, भय तथा चित्तनाश अथवा संज्ञानाश होकर मृत्यु होती है ॥ ६९ ॥

घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणम् ॥ ७० ॥

शृङ्गाटक-स्थान—नाक, कान, आंख तथा जिह्वा; इनका सन्तर्पण करने वाली शिराओं का, शिर के बीच में जो शिरासन्निपात (बहुशिरा-संयोग) हैं, वे चार शृङ्गाटक नाम के मर्म हैं, वहां पर भी सद्यःमृत्यु होती है ॥ ७० ॥

मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥७१॥

अधिपति–स्थान--मस्तिष्क के अन्दर ऊपर की ओर जहां पर शिराओंका तथा कपालास्थियों का संयोग है और जहां पर बाल आवर्ताकार अर्थात् चक्कर खाये हुए होते हैं (जहां हिन्दू शिखा रखते हैं) वहां पर अधिपति नामक मर्म है। वहां पर भी सद्यः मृत्यु होती है। इस प्रकार हमने ऊर्ध्वजत्रुगत ३७ मर्मों की व्याख्या कर दी है ॥ ७१ ॥

भवन्ति चात्र।

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम् ॥
विद्धयङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥ ७२ ॥

१ 'घ्राणादीन्द्रियचतुष्कतर्पणीनां सिराणां सिरामुखानां सन्निपातः संयोगस्थानं शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि घ्राणादितर्पणसिराणां चतुर्भेदात्। 'शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि' इति पा०। २ 'सद्योमरणं' इति पा०। ३ 'सपरं द्वितीयजानुसहितमित्यर्थः।

हृद्वस्तिकूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे ॥
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम् ॥ ७३ ॥

मर्मों के परिमाण—ऊर्वी, कूर्चशिर, विटप, कक्षधर तथा स्तनमूल नामक मर्मस्थल एक २ अंगुल परिमित होते हैं । मणिबन्ध (कलाई), गुल्फ, दो २ अंगुल। कूर्पर (कोहनी) तथा जानु तीन २ अंगुल। हृदय, वस्ति, कूर्च, गुदा, नाभि और शिर में जो चार अर्थात् शृङ्गाटक, जो पांच अर्थात् सीमन्त तथा गले में जो दस और दो अर्थात् बारह, २ नीला २मन्या, आठ मातृकायें; ये सब मुष्टि परिमित होते हैं । शेष मर्मों को आधा २ अंगुल लम्बा चौड़ा जानना चाहिये ॥ ७२–७३ ॥

एतत्प्रमाणमभिवीच्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम् ॥
पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म
तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥ ७४ ॥

विद्वान् शस्त्रचिकित्सक (Surgeons) इन प्रमाणों को जानकर मर्मों का त्याग कर के शस्त्रकर्म करना बतलाते हैं। चूंकि मर्मों के पार्श्वपर भी चोट लगने से मृत्यु होजाती है अतः मर्मस्थलों को यत्न से बचाये रखना चाहिये ॥ ७४ ॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति ॥
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥ ७५ ॥

हाथ पांवों के छिन्न होजाने पर वहां की शिराएं (Blood vessels) सिकुड़ जाती हैं (इससे शिराओं की दिवारों की elasticity--स्थितिस्थापकता भी सूचित कर दी गई है) अतः रक्त अधिक नहीं निकलता; अत एव मनुष्य उग्र और अत्यधिक विपत्ति (अंग का कट जाना रूप)

को प्राप्त होकर के भी—मृत्यु का ग्रास नहीं होते। जैसे वृक्ष की शाखा काट देने से वृक्ष सूख नहीं जाता ॥ ७५ ॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति ॥
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधविघातनिकृत्तमूलाः ॥ ७६ ॥

क्षिप्र और तलहृदय नामक मर्मों पर विद्ध होने से रक्त अत्यधिक परिमाण में निकलता है और वहां वायु अत्यन्त वेदना उत्पन्न करता है। जैसे वृक्ष की जड़ को कुल्हाड़ी से काट देने पर वह सूख जाता है और गिर पड़ता है, वैसे ही यहां पर विद्ध होने से मृत्यु होजाती है ॥ ७६ ॥

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे ॥ ७७ ॥

अतः यदि इन मर्मों पर चोट लगी हो तो उस मनुष्य को मृत्युमुख से बचाने के लिये मणिबन्ध और गुल्फ देश पर हाथ और पैर को छिन्न करदे-काटदे। अर्थात् यदि हस्तगत क्षिप्र या तलहृदय नामी मर्म पर अभिघात हुआ है तो उसी हाथ के मणिबन्ध देश पर शस्त्र से काट कर हाथ को पृथक् करदे। इसी प्रकार टांग को गुल्फ देश पर काट देना चाहिये ॥ ७७ ॥

मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः ॥
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचि-
त्ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥ ७८ ॥

यतः मर्मों पर प्रहार होने से सद्यः मृत्यु हो जाती है, अतएव शास्त्र-

---

१ 'गयी तु, वृक्षा इवायुधनिपातेत्यादिस्थाने 'किञ्जल्कपत्रमथनादिव पङ्कजानि' इति पठति। २ 'शल्यस्य मनःशरीराबाधकरस्य विषयः शल्यविषयः; स च शस्त्रादिप्रणिधानान्मरणामरणकारकत्वेन द्विविधः; तत्र मरणकारकः शल्यविषयो मर्माख्यः शरीरदेशः, यस्मात्तत्र हताः सद्य एव न भवन्ति सप्ताहाभ्यन्तर एव म्रियन्ते इत्यर्थः, तस्मान्मरणकारकत्वेन मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति; 'पूर्वाचार्याः' इति शेषः, इति डल्हणः ॥

चिकित्सा में इनका आधा स्थान है। अर्थात् इनका ज्ञान वैद्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि कदाचित् चतुर वैद्य की चिकित्सा से जीवन बच भी जाय तो भी विकलता तो निःसंशय हो ही जाती है॥ ७८॥

संभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला
जीवन्ति शस्त्रवि (नि) हतैश्च शरीरदेशैः॥
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै[1]-
र्येषां न मर्मपतिता[2] विविधाः प्रहाराः॥ ७९॥

जिन मनुष्यों के मर्म देश पर किसी प्रकार का अभिघात न हुआ हो, वे मनुष्य चाहे उनके कोष्ठ या शिरःकपाल (खोपड़ी) फट गये हों या बहुत से टुकड़ों में टूट गये हों अथवा शरीर पर शस्त्रों से आघात हुए हों अथवा टांग, बाहु, हाथ, पैर सर्वथा ही कट गये हों तो, भी जीवित रहते हैं। अर्थात् दूसरी चोटें चाहे कितनी ही घोर क्यों न हों, हड्डी तक चाहे क्यों न टूट जाय प्रायः मनुष्य बच जाया करता है, पर मर्म पर लगी हुई चोट से बचना कठिन होता है॥ ७९॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च॥
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते॥
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः॥ ८०॥

सोम (जल), वायु, तेज और सत्त्व, रज तथा तम एवं भूतात्मा मनुष्यों के मर्मों में प्रायशः रहा करते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि ये सब द्रव्य सम्पूर्ण शरीर में ही रहते हैं, परन्तु मर्मों पर इनका भाव स्पष्ट होता है। अत एव (सोमादि की अवस्थिति के कारण) मर्मों पर अभिघात से प्राणी जीवित नहीं रहते॥ ८०॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः॥
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते॥ ८१॥

सद्यःप्राणहर मर्मों पर अभिघात से इन्द्रियों का स्वविषयों का ग्रहण न करना, मन और बुद्धि का पलट जाना और तरह२ की तीव्र वेदनाओं का होना—हुआ करता है॥ ८१॥

---

१ 'रशेषं' इति पा०। २ 'मर्मसु कृता' इति पा०।

हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ॥
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥ ८२ ॥

कालान्तरप्राणहर मर्मों पर अभिघात से मनुष्यों की धातुएं क्षीण होने लगती हैं। धातुक्षय होते २ और वेदनाओं से–इस रोगी की मृत्यु हो जाया करती है ॥ ८२ ॥

हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ॥
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥८३॥

वैकल्यजनक मर्मों पर अभिघात से केवल वैद्य की चतुराई से ही शरीर क्रिया युक्त रहता हुआ भी विकल रहता ही है ॥ ८३ ॥

विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥ ८४ ॥

विशल्यघ्न मर्मों पर जो कारण हम पूर्व कह आये हैं, वही जानने चाहियें ॥ ८४ ॥



रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ॥
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥८५॥

रुजाकर मर्मों पर आघात से विविध वेदनायें हुआ करती हैं। परन्तु यदि रोगी कुवैद्य से चिकित्सा कराता हो तो, अन्त में विकलता भी होजाती है ॥ ८५ ॥

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि ।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ८६ ॥

मर्म के समीप देश पर छेदन, भेदन तथा अभिघात (चोट) से, जलने से एवं दारण (फटना) से मर्मों के लक्षणों के तुल्य लक्षण ही प्रकट होते हैं ॥ ८६ ॥

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा ॥
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥८७॥

कोई भी मर्म की चोट ऐसी नहीं है, जिसमें थोड़ी सी ही हानि होती हो अथवा सर्वथा ही न होती हो। प्रायः मर्मों पर चोट लगने से या

तो विकलता होती है अथवा मृत्यु होजाती है ॥ ८७ ॥

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ॥
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ ८८ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः

जो विविध प्रकार के रोग मनुष्यों में मर्म को आश्रय करके होते हैं वे प्रायः प्रयत्न से चिकित्सा कराते हुए भी कष्टतम हुआ करते हैं । अर्थात् मर्माधिष्ठित रोग कृच्छ्र साध्य ही नहीं कृच्छ्रतमसाध्य होते हैं ॥ ८८ ॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शरीरस्थाने षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः सिरावर्णनविभक्तिं नाम शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब शिराओं के गुण कर्म आदि का वर्णन तथा विभाग नामक शारीर की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः; द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः; तासां नाभिमूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ २ ॥

सात सौ शिरायें हैं, ये शिरायें आकुञ्चन एवं प्रसारण आदि विशेष कर्मों द्वारा इस शरीर का उपस्नेहन तथा इस पर अनुग्रह करती हैं । जैसे जलहारिणी नालियों द्वारा फुलवाड़ी का अथवा कुल्याओं (छोटी नहरों) द्वारा खेत का उपस्नेहन होता है ।

---

१ सिरावर्णविभक्तिमिति पाठान्तरे सिराणां वातादिवहानां तद्वर्णानां चारुणनीलशुक्ललोहितानां विभक्तिः विभागः (समुदायात् पृथक्करणमिति यावत्) यस्मिन् शारीरे तत्तथाविधम । 'सिरावर्णविभक्तिशरीरं' इति पा० । २ एतद्दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम् ।

उपस्नेहन शब्द यहां विशेष महत्त्व रखता है। अर्थात् जैसे नाली को क्यारी में खोल दिया जाता है, वह वहां तो सींचती ही है, परन्तु मार्ग में आते हुए उसका थोड़ा सा पानी का हिस्सा उसकी दीवारों में से रिस २ कर बाहिर निकल कर अपनी आस पास की ज़मीन को भी सींचता जाता है, इसी प्रकार शिराओं की दीवारों से भी जलीय एवं पोषक भाग रिस २ कर आस पास की धातुओं को पुष्ट करता है, यही उपस्नेहन शब्द का गूढ़ भाव है। शिराओं के आकुञ्चन और प्रसारण द्वारा यह भी जता दिया। कि इनकी दीवारें स्थितिस्थापक (elastic, लचकीली) होती हैं। आदि शब्द से यह भी जान लेना चाहिये कि यद्यपि हृदय से निकलने वाली रक्त वाहिनियों (प्रायशः आजकल धमनीपद वाच्य) में आकुञ्चन और प्रसारण से रक्तगति में सहायता मिलती है, परन्तु हृदय की ओर जाने वाली रक्तवाहिनियों (प्रायशः शिरापदवाच्य) में कपाटियों (Valves) द्वारा रक्तसंवहन (Blood Circulation) में सहायता मिलती है। ये कपाटियां रक्त को वापिस नहीं लौटने देतीं ॥

वृक्ष के पत्तों की सेवनिओं की तरह इसके भी प्रतान होते हैं। अर्थात् जैसे पत्ते के मध्यदेश में एक सब से मोटी सीवन होती है, उस से पुनः अपेक्षया कम मोटी शाखायें निकलती हैं, फिर यह शाखायें भी प्रशाखाओं में फूटती जाती, हैं और यहां तक फूटती जाती हैं कि सारे पत्ते में जाल की तरह फैल जाती हैं। यही क्रम हमारे शरीर में शिराओं का है। इन शिराओं का नाभि मूल है—यहीं से ऊपर, नीचे और चारों ओर शिरायें फैलती हैं।

यहां पर यह समझ लेना चाहिये कि ग्रन्थकार यहां पर गर्भावस्था में होने वाले रक्तसंवहन क्रम का निदर्शन कराना चाहता है। क्योंकि शिशु के गर्भकाल में ही नाभि रक्तसंवहन का मूल कारण हुआ करती है। गर्भावस्था में शिशु का हृदय रक्तसंवहन कराने का कार्य नहीं करता। उस समय माता का रक्त ही शिशु के शरीर में चक्कर काटा करता है। प्रथम गर्भाशय में शुक्रशोणित तथा आत्मा के संयोग होने पर गर्भोत्पत्ति प्रारम्भ होजाती है। गर्भोत्पत्ति समय अपरा (Placenta) भी बनती है, जिसका सीधा

सम्बन्ध गर्भाशय के साथ होता है, इससे धमनी और शिरायें गर्भशरीर (भ्रूण) में आती और जाती हैं। ये धमनी और शिरायें भ्रूण के नाभिदेश से ही शरीर में प्रविष्ट होती हैं। अतएव नाभि को शिराओं का मूल कहा है। शिशु के उत्पन्न होजाने पर उसमें पृथक् जीवन शक्ति आजाती है और नाभि से प्रविष्ट होने वाली शिरायें स्नायुरूप धारण कर लेती हैं तथा च मूलत्वेन नाभि का इस प्रकार रक्तसंवहन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥ २ ॥

भवतश्चात्र

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति[1] शरीरिणाम् ॥
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति[2] समन्ततः ॥ ३ ॥

कहा भी है—प्राणियों के शरीर में जितनी भी शिरायें उत्पन्न होती हैं, वे सब की सब (गर्भावस्था में) नाभि से सम्बद्ध रहती हुई चारों ओर फैलती हैं ॥३॥

नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ॥
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ ४ ॥

प्राणियों के प्राण (गर्भावस्था में) नाभि में स्थित होते हैं और नाभि प्राणों पर आश्रित है। नाभि शिराओं से आवृत (घिरी हुई) है, जैसे पहिये की नाभि अरों से घिरी हुई होती है।

यहां पर दृष्टान्त देते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि "प्राण" शब्द से हमें यहां किसका ग्रहण करना चाहिये? यहां पर प्राण शब्द से गर्भ के पोषणार्थ माता के आहार रस युक्त रुधिर का ग्रहण किया जाता है। चरक में कहा भी है—

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥

सुश्रुत सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय में कहा है—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥

१ सम् उपसर्ग पूर्वक भू धातु का अर्थ "उत्पत्ति" होता है, और शिरायें गर्भकाल में ही पैदा होती हैं। अतः यह बात सिद्ध होगई कि यहां शरीरि शब्द से गर्भ ही लेना चाहिये। २ 'प्रवर्तन्ते' इति पा०।

"रक्त ही जीव है"—इस सुश्रुतोक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है कि पोषकांशयुक्त रक्त का नाम भी जीव या प्राण होता है। शिरायें प्राण का आधार हैं।

"नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः" इस वाक्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भ्रूण की नाभिरज्जु में किसी प्रकार से भी रुकावट होने पर भ्रूण की मृत्यु होजाती है क्योंकि उस समय उसमें प्राण—रक्त का प्रवेश नहीं होता। और नाभिका पोषण भी इसी प्राण—रक्त पर आश्रित होता है। अतः यह ठीक ही कहा है कि (गर्भस्थ) प्राणियों के प्राण नाभि में स्थित रहते हैं। और नाभि प्राणों पर आश्रित है। दृष्टान्त में भी नाभि अरों पर आश्रित होती है, तथा अरे नाभि में आश्रित होते हैं। और जिस प्रकार अरे नाभि के चारों ओर होते है उसी प्रकार गर्भावस्था में नाभि के चारों ओर शिरायें घिरी होती हैं। गर्भावस्था में शिशु के उदरतल से लेकर अपरातल तक की शिरासमूह का नाम नाभि होता है। माता का पोषक रुधिर शिराओं द्वारा अपरा में आता है। यह रुधिर अपरा में फैली हुई शिराओं में बहता है और वहां से किञ्चि-द्विशुद्ध होकर एक मोटी सिरा द्वारा गर्भ में प्रविष्ट होता है, यह मोटी सिरा नाभि का एक भाग है। अतः यह भी स्पष्ट होगया कि नाभि (अपरागत प्रान्त) के चारों ओर अरे की तरह शिरायें (अपरा में स्थित) होती हैं ॥ ४ ॥

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवा-हिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवा-हिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्त-वाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृ-त्प्लीह्नोः, एवमेतानि सप्त सिराशतानि ॥ ५ ॥

इन सातसौ शिराओं में से मूल शिरायें ४० है। उनका विभाग इस प्रकार—है वातवाहिनी १०, पित्तवाहिनी १०, कफवाहिनी १०, रक्तवाहिनी १०, इनमें से वातस्थान में गई हुई (दस) वातवाहिनियां (विभक्त होती हुई) १७५ होजाती हैं। इसी प्रकार पित्तस्थान में पित्तवाहिनियां; कफस्थान में कफवाहिनियां तथा रक्तवाहिनियां यकृत् और प्लीहा में। इस प्रकार

१७५×४ = ७०० शिरायें पूरी होती हैं।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वस्तुतः सातसौ की सातसौ शिरायें ही सर्ववहा हैं—जैसाकि आगे चलकर इसी अध्याय में कहा जायगा—परन्तु उन २ धातुओं के स्थान पर उन २ का पोषक भाग ही शिराओं में से खींचा जाकर काम में आता है। अतः गौणरूप से वहां २ वातवाहिनी आदि नाम होजाता है ॥ ५ ॥

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥ ६ ॥

सातसौ शिराओं का स्थान भेद से विभाग—एक टांग में वातवाहिनी शिरायें २५ होती हैं। इतनी ही दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में भी ॥ ६ ॥

विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्; तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि ॥ ७ ॥

कोष्ठ में ३४। इन में से गुदा और मूत्रेन्द्रिय में आश्रित शिरायें श्रोणि में ८; पार्श्वों में दो, दो; पीठ में ६; उतनी ही पेट में; छाती में १० ॥७॥

एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां, षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां[1] सिराणां व्याख्यातं भवति ॥ ८ ॥

जत्रुसन्धि से ऊपर ४१। इनमें से गर्दन में १४, कानों में ४, जिह्वा में ९, नासिका में ६, आखों में ८। इसप्रकार अर्थात्-शाखाओं में २५×४ = १००वातवाहिनी शिरायें, कोष्ठ में ३४, ऊर्ध्वजत्रुगत ४१ मिलाकर १७५ वातवाहिनी शिराओं की व्याख्या कर दी गई है ॥८॥

एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे, एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥ ९ ॥

शेष पित्तवाहिनी आदियों का भी यही विभाग है। केवल भेद इतना ही है कि जहां नेत्रों में आठ वातवाहिनी हैं, वहां पित्तवाहिनी १० हैं

१ 'वातवाहिनीनां' इति पा०।

और जहां कानों में वातवाहिनी चार हैं, वहां पित्तवाहिनी दो हैं। ऐसे ही रक्तवहा और कफवहा शिरायें भी। इस प्रकार विभाग सहित ७०० शिराओं का वर्णन कर दिया है ॥९॥

भवन्ति चात्र।

क्रियाणामप्रतघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ॥
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥१०॥

वायु अपनी शिराओं में चलता हुआ क्रियाओं (कायिक व्यापारों) में विघ्न या रुकावट नहीं होने देता और बुद्धि तथा कर्म या ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को स्व विषय-ग्रहण में समर्थ रखता है। इसी प्रकार अन्य भी जो वात के गुण हैं (जिनका चरक ने वात-कलाकलीय नामक अध्याय में स्पष्ट वर्णन किया है); उन्हें भी याथातथ्य रूप से करता है ॥ १० ॥

यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ॥
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ११ ॥

जब कुपित हुई २ वायु अपनी शिराओं में प्राप्त होती है तब विविध प्रकार के वातज रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ११ ॥

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ॥
संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चन्यान्गुणानपि ॥ १२ ॥

अपनी शिराओं में चलता हुआ पित्त भ्राजिष्णुता (चमक), अन्न में रुचि, अग्निदीप्ति, आरोग्य तथा दूसरे गुणों को करता है ॥ १२ ॥

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १३ ॥

जब प्रकुपित हुआ २ पित्त अपनी-अर्थात् पित्तवाहिनी शिराओं में जाता है, तब विविध प्रकार के पित्तज रोग उत्पन्न होजाते हैं ॥ १३ ॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ॥
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥१४॥

कफ अपनी शिराओं में चलता हुआ अङ्गों में स्नेह (चिकनाई) सन्धियों की स्थिरता, बल, उत्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है॥१४॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ॥

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥ १५ ॥

जब कुपित हुआ २ कफ अपनी शिराओं में प्राप्त होता है, तब विविध प्रकार के कफज रोग पैदा होजाते हैं ॥१५॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ॥
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥ १६ ॥

अपनी शिराओं में बहता हुआ रक्त धातुओं का पूरण, वर्ण (Colour, Complexion), स्पर्शज्ञान तथा अन्य गुणों को करता है ॥१६॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ॥
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१७॥

जब कुपित हुआ २ रक्त रक्तवहा शिराओं में जाता है, तब विविध रक्तज रोग हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ॥
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१८॥

कोई भी शिरा केवल वात, केवल पित्त या केवल कफ का वहन नहीं करती, अपितु सब का करती हैं; अतः ये शिरायें सर्ववहा कहाती हैं॥१८॥

प्रदुष्टानां हि दोषाणां[1] मूर्च्छितानां प्रधावताम् ॥
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥ १९ ॥

स्व परिमाण से बढ़े हुए अथवा परस्पर मिश्रित हुए २ और दुष्ट हुए २ दोष जब दौड़ते हैं, अर्थात् शरीर में एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं; तब उनका उन्मार्ग (ग़लत रास्ता) में जाना निश्चित ही है, अतः भी ये सर्ववहा होती है । अर्थात् सब शिरायें चाहे वात आदि से अदुष्ट हों चाहे दुष्ट हों सबका वहन करती हैं, एक २ का नहीं ॥१९॥

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः ॥
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ॥
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥ २० ॥

वातवहा शिरायें अरुण (लाल—ईंट के रंग की) होती हैं और वे वायु के कारण फूली हुई होती हैं। पित्त से नील वर्ण की और उष्ण होती हैं।

१ 'दोषाणामुच्छ्रितानां' इति पा० ।

कफ से गौर वर्ण की ठण्डी और स्थिर होती है। रक्तवहा शिरायें लाल (चमकदार) होती हैं और न वे बहुत गरम होती हैं न ठण्डी।

ऊपर के दो श्लोकों में सम्पूर्ण शिराओं को सर्ववहा कहकर पुनः एक २ दोष का वहन करने वाली शिराओं के वर्णन करने का अभिप्राय यह नहीं कि सुश्रुत को इनका सम्यक् ज्ञान नहीं था और उसे इस विषय में अनभिज्ञता थी। अपितु इस वर्णन से उसके गम्भीर ज्ञान का पता लगता है। जब खून हृदय से महाधमनी (Aorta) द्वारा चलता है, वह अत्यन्त विशुद्ध होता है और चमकदार लाल रंग का होता है। यह लाल रंग का खून सम्पूर्ण धमनियों (फुप्फुसीया धमनियों को छोड़कर) तथा तथा फुप्फुसीया शिराओं में बहता है। अतएव ये धमनियां भी चमकदार लाल रंग की दिखाई देती हैं। जब इन धमनियों का खून मांस आदि धातुओं में उनके पोषण के लिए जाता है तब वहां रासायनिक परिवर्तन होते हैं, और वहां के मल पदार्थ शिराओं में (Veins) में चले आते हैं। परन्तु वात आदि दोषों के अनुसार इन मल पदार्थों की राशि तथा वर्ण में भेद आजाता है। अर्थात् यदि वात प्रकुपित हो गया हो और पित्त और कफ अपनी प्राकृतिक अवस्था में हों तो परिणाम यह होगा कि अभी रासायनिक परिवर्तन पूरा भी न होने पायगा कि इससे उत्पन्न हुए २ थोड़े से मल को ही वात धकेल कर शिराओं (Veins) में पहुंचा देगी। जिससे मल के अल्पपरिमाण में मिश्रित होजाने से खून का चमकदार लाल रंग मैला होकर ईंट का सा हो जायगा। परन्तु यदि पित्त प्रकुपित हो और वात और कफ प्राकृत परिमाण में हों तो परिणाम यह होगा कि वात और कफ के स्व २ कार्य तो प्राकृतिक अवस्था में ही हो रहे होंगे और पित्त अर्थात् रासायनिक परिवर्तन (Metabolism) जन्य कायाग्नि अत्यधिक मात्रा में बढ़ जायगी और वह धातुओं को जला कर कृष्ण नील रंग का कर देगी और मल बहुत अधिक बन जायगा। जब ये धात्वंश (Tissues) वात द्वारा रक्त में मिलेंगे तो वह भी कृष्ण नील वर्ण का होजायगा।

इसी प्रकार जब वात और पित्त स्व २ परिमाण में स्थित हों और

कफ बढ़ा हुआ हो तो रासायनिक परिवर्तन या तो होने ही न पायगा, या होगा तो अत्यल्प होगा, जिससे खून में मल तो मिलेगा ही नहीं और उसकी जगह दुष्ट कफ (जलीयांश) मिल जायगा और खून का रंग अत्यन्त हलका पड़ जायगा।

यही कारण है कि शिराओं की दीवारों के एकसा होने पर भी उनके मध्य में बहने वाले द्रव्य के वर्ण भेद से उनका वर्ण भी बदला हुआ दीखता है। शिरायें एक ही हैं, जब वात कुपित होता है, तो उपरोक्त कारण से अरुणवर्ण, जब पित्त कुपित होता है तो नील वर्ण, जब कफ कुपित होता है तो गौर वर्ण होजाता है। इसी प्रकार वात के कुपित होने से गतिरूप कार्य शीघ्रता के साथ होने के कारण फूल जाती हैं, परन्तु यदि इन्हें हाथ से दबाया जाय तो दब जायगी (Compressible), परन्तु यदि शिराओं में कफवृद्धि के कारण जलीयांश अत्यधिक मात्रा में जा रहा हो तो स्पर्श में कठिन होती हैं।

इस बीसवें श्लोक में जो कुछ कहा गया है वह सूत्ररूप से नाडी-विज्ञान का निदर्शक है।

उपर्युक्त बात को समझने के लिये प्रसादसंज्ञक वात, पित्त, कफ के कार्य सूत्ररूप से जान लेने चाहियें जो कि निम्न प्रकार हैं—शरीर में जो चेष्टा (कायिक व्यापार) और ज्ञानोपलब्धि का साधन है वह वात है। जो सर्वत्र उष्णता को पैदा करता है, वह पित्त है और जो शरीर को इस निरन्तर उत्पन्न होती हुई उष्णता से बचा कर स्नेहन एवं तर्पण करता है, उसका नाम कफ है।

अतः उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यह स्पष्ट होगया कि शिरायें एक ही हैं परन्तु वातादि दोष से तत्तत्स्थल या सर्वशरीर में तत्तद्भेद आजाता है और जिस २ दोष से दूषित रक्त बह रहा होता है उस २ दोष के नाम से उन्हें उस २ दोष का वहन करने वाली शिरायें कहा जाता है। यही वातवहा, पित्तवहा आदि का तात्पर्य है। शास्त्रकार ने भी "पित्तादुष्णाश्च" तथा "गौर्यः स्थिराः कफात्" ऐसा कह कर यही बताया है कि विशिष्ट दोष के कोप से ही उसका विशेष नाम पड़ जाता है, जैसे देवदत्त ही पढ़ाते समय अध्यापक और रसोई करते समय पाचक नाम से पुकारा जाता है ॥२०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक् ॥
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥२१॥

इसके बाद अब वह शिरायें बताई जांयगी जिनका शस्त्रचिकित्सक को वेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि उन २ के वेध से विकलता और मृत्यु निश्चय से होजाती है ॥ २१ ॥

सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् ॥
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टिं च मूर्धनि ॥२२॥

शाखाओं में—४०० शिरायें, कोष्ठ में—१३६ शिरायें, और शिर में—१६४ शिरायें हैं ॥ २२ ॥

शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु ॥
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥ २३ ॥

अव्यध्यशिरा-परिगणन—इनमें से शाखाओं में न वेधने योग्य—१६ शिरायें, कोष्ठ में न वेधने योग्य—३२ शिरायें जत्रूर्ध्व में न वेधने योग्य ५० शिरायें कही गई हैं ॥ २३ ॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति; तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा[1] चैका, एतास्त्वव्यध्याः; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु ॥ २४ ॥

शाखागत ४०० शिराओं में से एक टांग में १०० शिरायें होती हैं। इनमें से जालधरा शिरा १ और अन्दर की ३ शिरायें अर्थात् ऊर्वी नामक दो शिरायें और लोहिताक्ष नामक एक, ये चारों अव्यध्य हैं। इसी से ही दूसरी टांग और दोनों बाहुओं को भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार चारों शाखाओं में ४×४ = १६ शिरायें शस्त्रकर्म से बचानी चाहियें ॥ २४ ॥

द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः, कटीकतरुणयोश्च ॥ २५ ॥

श्रोणिदेश में ३२ शिरायें हैं। इनमें से ८ शस्त्रकर्म में बचानी चाहियें। विटप नामक मर्मों में दो २ और कटीकतरुणों में दो २ ॥ २५ ॥

---

[1] 'लोहिताक्षसंज्ञका' इति पा०।

अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे ॥ २६ ॥

एक २ पार्श्व में आठ २ शिरायें होती हैं। इनमें से एक २ ऊपर जाने वाली को शस्त्रकर्म से बचाना चाहिये। पार्श्वसन्धिगत दो शिराओं का भी परिहार करना चाहिये ॥ २६ ॥

चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे[1] पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे परिहरेद्बृहतीसिरे ॥ २७ ॥

पृष्ठवंश के दोनों ओर मिलाकर २४ शिरायें हैं। इनमें से ऊपर जाने वाली दो बृहती नामक शिराओं का परिहार करना चाहिये ॥१६॥

तावत्य एवोदरे, तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत् ॥ २८ ॥

चौबीस ही शिरायें उदर में होती हैं। इनमें से मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के ऊपर की रोमराजी (लोमों) के दोनों ओर दो २ बचायें ॥२८॥

चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ,एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति ॥ २९ ॥

छाती में चालीस शिरायें होती हैं। इनमें से १४ शिराओं पर शस्त्रकर्म न करना चाहिये। हृदय में दो; स्तनमूल में दो २; स्तनरोहित, अपलाप तथा अपस्तम्भ के दोनों ओर शिरायें मिलाकर आठ अर्थात् स्तनरोहित के दोनों ओर दो २ और अपलाप एवं अपस्तम्भ के दोनों ओर एक २।

इस प्रकार पीठ, पेट और छाती में अर्थात् सम्पूर्ण कोष्ठ—मध्य शरीर में ८+४+२+४+१४=३२ शिरायें शस्त्रकर्म के अयोग्य हैं ॥२९॥

चतुःषष्टिसिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति; तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां[2], तासामष्टौ[3] चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे

१ 'पृष्ठे' इति न पठ्यते केषुचित्पुस्तकेषु। २ 'तत्राष्टपञ्चाशत्' इति पा०।
३ अष्टौ चतस्रश्च मर्मसंज्ञा इति तत्राष्टौ मातृकाः, द्वे नीले, द्वे च मन्ये, एता द्वादश मर्मसंज्ञा इत्यर्थः।

विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशा[1]व्यध्याः ॥ ३० ॥

जत्रु से ऊपर १६४ शिरायें हैं। इनमें से ग्रीवा में ५६ हैं। जिनमें से मर्मसंज्ञक १२ शिरायें और दो कृकाटिका की और दो विधुर नाम की बचानी चाहियें। इस प्रकार ग्रीवा में १६ शिरायें अव्यध्य हैं ॥३०॥

हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धि[2]धमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत् ॥ ३१ ॥

हनुसन्धि के दोनों ओर आठ २ शिरायें हैं, जिनमें से सन्धिस्थित दो २ धमनियां छोड़ देनी चाहियें ॥३१॥

षट्[3]त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः, रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे ॥ ३२ ॥

जिह्वा में ३६ शिरायें हैं। इनमें से जिह्वा के नीचे की १६ शिराओं में से दो रसवहा और दो वाग्वहा शस्त्रकर्म के योग्य नहीं है ॥३२॥

द्वि[4]द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः परिहरेत्, तासामेव च तालुन्येकां मृदा[5]र्वुदेशे ॥ ३३ ॥

नाक में २४ शिरायें हैं। इनमें से नाक के पास की अर्थात् नासातल के पार्श्वों की चार शिरायें शस्त्रकर्म से बचावे। और इन्हीं २४ शिराओं में से तालु में मृदुदेश में दीखने वाली एक शिरा का परिहार करे ॥३३॥

अ[6]ष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् ॥ ३४ ॥

दोनों आखों में ३८ शिरायें हैं। इनमें से अपाङ्गों की एक २ शिरा को बचाना चाहिये ॥३४॥

क[7]र्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥ ३५ ॥

---

१ गयी तु वातादिवहानां चतुर्भिरष्टकैर्द्वात्रिंशद्ग्रीवायां, तत्र षोडशाव्यध्या इति प्रतिपादयति। २ सन्धिधमन्याविति हनुसन्धिधमन्यावित्यर्थः। हन्वोः षोडश सिरा ग्रीवासिरास्वेवान्तर्भवन्तीत्यतो न पृथग्गणनीयाः। गयी तु हनुगताः पृथगेव षोडश, तत्र द्वे सन्धिबन्धनकर्मणी परिहरेदित्याह। ३ गयी तु अष्टाविंशतिर्जिह्वायां, तासां रसवाहिन्यः षडशस्त्रकृत्या इति ब्रूते। ४ गयी तु 'षोडश नासायां, तासु पञ्चाव्याध्या' इत्याह।

५ मृदार्वुदेशे इति घोणासमीप इत्यर्थः। ६ 'षट्त्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः' इति पा०। गयी तु 'चतुर्विंशतिरुभयोर्नेत्रयोः; तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् इत्याचष्टे।

७ गयी तु, 'कर्णयोः षोडश तासामेकैकां शब्दवहां परिहरेत् इति ब्रूते।

कानों में १० शिरायें हैं । इनमें से शब्दवाहिनी नामक एक २ शिरा को बचाना चाहिये ॥३५॥

नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या ॥ ३६ ॥

नाक तथा आंख में गई हुई मस्तक में ६० हैं। जिनमें से केशान्त (जहां पर केश समाप्त होते हैं) के साथ २ जाने वाली चार, आवर्त्त नामक मर्मों में एक २ और स्थपनी में एक शिरा को बचाना चाहिये ॥३६॥

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतामेकैकां परिहरेत् (इत्येता नासानेत्रगता बोद्धव्याः) ॥ ३७ ॥

शङ्खों में १० शिरायें हैं। इनमें से शङ्खसन्धि की एक २ शिरा का परिहार करना चाहिये ॥३७॥

द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकां, एकामधिपताविति, एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३८ ॥

शिर में १२ शिरायें हैं। इनमें से उत्क्षेप नामक मर्मों में दो, सीमन्तों में एक २ और अधिपति में एक शिरा को बचाना चाहिये।

इस प्रकार जत्रु से ऊपर १६+४+४+५+२+२+७+२+८=५० शिरायें शस्त्रकर्म के योग्य नहीं हैं ॥३८॥

भवति चात्र।

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः ॥
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥ ३९ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

१ याश्चतुर्विंशतिर्नासागता याश्च षट्त्रिंशन्नेत्रगतास्ता एव षष्टिर्ललाटे ज्ञातव्याः। यद्यप्यष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरा उक्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तत्राभावः. अतो नेत्रगता अष्टत्रिंशदपि ललाटे पुनः षट्त्रिंशदेवेति। गयी तु ललाटस्थिताभिः सिराभिः सह नासानेत्रगताः सिराः ललाटे षष्टिः, तासु सप्ताव्यध्या इति ब्रूते।

२ शङ्खयोर्दशेत्येता अपि नासानेत्रगता बोद्धव्याः अतो न पृथग्गणनीयाः। गयी तु शङ्खयोरष्टौ पृथगेव पठति; तासु द्वे शङ्खसन्धिगतेऽव्यध्ये, इति प्रतिपादयति।

३ एतासामपि नासानेत्रगतत्वात् पृथग्गणना न कर्तव्या। गयी तु मूर्ध्नि पृथगेव द्वादश पठित्वा तास्वष्टावव्यध्या इत्याह।

नाभि से फैली हुई शिरायें शरीर में सर्वतः व्याप्त रहती हैं; जिस प्रकार पद्मिनी के कन्द से बिस आदियों के प्रतान जल में व्याप्त रहते हैं ॥३॥६

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः सिराव्यधविधिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब शिराव्यधविधि नामक शारीर की व्याख्या की जायगी, अर्थात् इस अध्याय में शिरा को वेधने का तरीक़ा बताया जायगा ॥१॥

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्याध्वस्त्रीकर्षितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥ २ ॥

किन २ का शिरावेध न करना चाहिये—बालक, बूढ़ा, रूक्ष, क्षतक्षीण, भीरु (डरपोक), परिश्रान्त (थका हुआ), जो स्त्रीसंग, मद्यसेवन एवं अति मार्गगमन (चलने फिरने से) कृश होगया है, उन्मत्त, वान्त (जिसे वमन हुआ हो), विरिक्त (जिसे विरेचन हुआ हो), आस्थापित (जिसे आस्थापन—निरूह वस्ति की गई हो), अनुवासित (जिन्हें अनुवासन–स्निग्ध वस्ति दी गई हो), जागरित (जो रात्रि में भी जागते रहे हों), क्लीब (नपुंसक), कृश, गर्भिणी तथा कास (खांसी), श्वास, शोष (यक्ष्मा), प्रवृद्धज्वर, आक्षेपक (Convulsions), पक्षाघात (HemiPlegia), मूर्छा आदि रोगों से पीड़ित, उपवास और पिपासा (तृषा-प्यास) से पीड़ित मनुष्यों की शिरा को न वेधें और अव्यध्य शिराओं को न वेधें। जो व्यध्य (वेधने योग्य) शिरायें हैं

यदि वे गम्भीर होने से न दीखें और जो दीखती भी हों—यदि उन्हें यन्त्रित (शिरावेध के समय शिरा को उठाने के लिये कपड़ा आदि कस कर बांध दिया जाता है) न किया गया हो, और यन्त्रित करने पर भी यदि शिरा न उठे तो शिरावेध न करना चाहिये ॥ २ ॥

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्केष्वन्येषु चानुक्तेषु यथा[1]भ्यासं यथा[2]न्यायं च सिरां विध्येत् ॥ ३ ॥

शोणितावसेचन (रक्तनिर्हरण) से ठीक हो जाने वाले रोग पहिले कह दिए गये हैं, उनकी अपक्वावस्था में तथा जो रोग उनमें नहीं कहे गये (परन्तु वे शोणितावसेकसाध्य हों)-जैसे—गुल्म प्लीहा आदि—उनमें भी यथाभ्यास (जिस शिरा का वैद्य वेधन किया करते हैं)—यथोचित तथा यथान्याय शिरा का वेधन करे ॥ ३ ॥

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गात्ययिकेषु सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

और जिन २ के लिए शिरावेध का निषेध किया गया है, वहां २ भी सर्पदंशनादिजन्य विषोपद्रव होने पर तथा आत्ययिक विसर्प आदि रोगों में शिरावेध निषिद्ध नहीं है ॥ ४ ॥

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीत[3]वन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नाति[4]गाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्र[5]मादाय सिरां विध्येत् ॥५॥

शिरावेध की सामान्यविधि—स्नेहन और स्वेदन करने के पश्चात् जिस रोगी ने दोषविपरीत द्रवप्राय अन्न (Liquid food) खाया हो, अथवा यवागू पीया हो, उसे उचित समय पर अपने पास ही बैठे हुए

---

१ यथाभ्यासं यथासन्नम्, एतत्तु मुख्यानामदर्शनविषयम् । स्मरन्ति च—
.........यथोक्तानामदर्शने । मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम् । इति ॥

२ यथान्यायं यथोचिताम् इति तु व्यध्यासु बह्वीपूत्थितासु विमृश्य व्यधनार्थम् । इति हाराण चन्द्रः ॥ यथान्यायमिति न्यायस्य स्नेहस्वेदादिकस्यानतिक्रमेण यथान्यायम् । इति डल्हणः ।

३ 'प्रतिपीतं' इति पा० ।

४ नातिगाढमुत्तमाङ्गे नातिशिथिलं शाखासु ।

५ 'प्राप्तं शस्त्रं गृहीत्वा' इति पाठान्तरे उपयुक्तं शस्त्रं गृहीत्वेत्यर्थः ।

अथवा खड़े हुए को, प्राणों को बाधा (मृत्यु) न पहुंचे—इस बात का ध्यान रखते हुए कपड़े की पट्टी, चमड़ा, अन्तर्वल्कल (वृक्ष की अन्दर की छाल) तथा लता (बेल), अथवा (Tourniquet) इनमें से किसी एक से न अत्यन्त कठिन, और न अत्यन्त शिथिल बांधकर शरीर में मर्म रहित स्थल पर यथोक्त शस्त्र से शिरा को वेधे ॥ ५ ॥

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते ॥
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥ ६ ॥

किस काल में शिरावेध न करना चाहिये—अत्यन्त शीत, अत्यन्त गर्मी, प्रवात (आंधी आदि–अथवा जहां सीधी हवा आती हो) और जिस दिन बादल हों अथवा बरसात में तथा रोगरहित अवस्था में (नीरोग पुरुष के) कभी भी शिरावेध न करना चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते[1] उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य[2] कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्टयोरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च यन्त्रं[3] पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्[4]; एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः ॥ ७ ॥

उत्तमाङ्गगत शिरावेधार्थ नियन्त्रणविधि—जिस पुरुष की शिरा का वेध करना हो, उसको अरत्निमात्र ऊंची चौकी पर सूर्य की ओर मुख करवा कर बैठा दें और टांग को जानुदेश पर ऊंचा उठा कर सिकोड़ने के लिये कहें। पश्चात् जानुदेश पर दोनों कोहनियों को टिकवावें और मुट्ठियां–जिनमें अंगूठा अन्दर की ओर हो–ग्रीवा में मन्या पर रखवावें, इस तरह उस पुरुष का मुंह ऊंचा उठा रहेगा और गला भी नियन्त्रण करते समय घुटने न पावेगा। पश्चात् यन्त्रणशाटक (वह लम्बा कपड़ा

---

१ कनिष्ठाङ्गुलिप्रमितहस्तमात्रेणोच्छ्रिते इत्यर्थः । २ 'सक्थ्नोराकुञ्चितयोरुपरि कूर्परसन्धिद्वयं निवेश्य' इति पा० । ३ 'यन्त्रं पीडयेति' 'पृष्ठमध्ये च पीडयेत्' इति च पा० । ४ 'कर्मपुरुषस्य मुखं वायुना पूरयेत्' इति पा० ।

जिससे नियन्त्रण किया जाय) को गर्दन और मुट्ठी पर डालकर, दूसरा पुरुष-जोकि उस पुरुष के पीछे बैठा हो-बायां हाथ ऊंचा करके शाटक के दोनों सिरों को पकड़ ले। अब वैद्य उस (पीछे बैठे हुए) पुरुष को कहे कि वह दाहिने हाथ से—शिरा को उठाने के लिये न बहुत खिंचे हुए न बहुत ढीले दो तीन लपेटे दे और रक्तनिर्हरण करने के लिये यन्त्रशाटक के दोनों सिरों को पृष्ठमध्य में पकड़ कर निष्पीडन करे (अर्थात् दोनों सिरों को इकट्ठा मिला कर जिस प्रकार कपड़ा निचोड़ा जाता है, उस प्रकार करे) अथवा खींचे और कर्मपुरुष (जिसकी शिरा का वेध किया जा रहा है) मुख में वायु भर कर बैठा रहे।

यह मुख के अन्दर की शिराओं को छोड़ कर सिर की शेष शिराओं के वेध के लिए नियन्त्रण करने की विधि है ॥ ७ ॥

तत्र पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थिरं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरपादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्टय हस्ताभ्यां[1] प्रपीड्यागुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत् ॥ ८ ॥

पादशिरावेधार्थ नियन्त्रणविधि—जिस पुरुष के पांव की शिरा का वेध करना हो, उस पुरुष के पांव को समस्थान पर दृढ़ता से टिकाकर दूसरा पांव जो कुछ सङ्कुचित किया गया हो—ऊंचा उठाकर, जिस पांव में शिरावेध करना हो, उस पांव को जानुसन्धि (घुटना) से नीचे शाटक (यन्त्रणार्थ वस्त्र) से लपेट कर नीचे के भाग को गुल्फ पर्यन्त दोनों हाथों से नीचे की ओर निष्पीडन करें अथवा व्यध्यदेश से चार अंगुल ऊपर कपड़ा, चर्म, अन्तःवल्कल; इत्यादि में से किसी एक से बांध दें। इस प्रकाररक्त मार्ग के रुक जाने से शिरा ऊंची उठ आती है। अब पादशिरा का वेधन करना चाहिये ॥ ८ ॥

अथोपरिष्टाद्धस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत् ॥ ९ ॥

हस्तशिरावेधनार्थ नियन्त्रणविधि—अंगूठे को अन्दर की ओर

[1] 'हस्ताभ्यां वा प्रपीड्य गुल्फं' इति पा०।

किये हुए मुट्ठी बंधवा कर हाथों को ऊपर यथोचित आसन पर टिका दें। पश्चात् पूर्ववत् यन्त्र (यन्त्रण शाटक) को बांधकर हस्तशिरा का वेधन करे। अर्थात् कूर्परसन्धि (कोहनी) से नीचे शाटक को लपेट कर मणिबन्ध पर्यन्त निष्पीडन करें अथवा व्यध्य देश से चार अंगुल ऊपर पट्टी आदि से कसकर बांध दें। यदि केवल मुट्ठी बंधवाने में शिरोत्थान न हो तो पत्थर आदि हाथ में पकड़ा कर ज़ोर से मुट्ठी बांधने को कहें ॥९॥

गृध्रसीविश्वाच्योः सङ्कुचितजानुकूर्परस्य ॥ १० ॥

गृध्रसी तथा विश्वाची में नियन्त्रणविधि—गृध्रसी और विश्वाची में यथाक्रम घुटना और कोहनी को संकुचित रखना चाहिये, शेष क्रिया पादहस्त-नियन्त्रण की तरह ही है ॥ १० ॥

श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत् ॥ ११ ॥

पृष्ठादिगतशिरावेधविधि—श्रोणि, पीठ तथा कन्धे में यदि शिरावेध करना हो तो पीठ को ऊंचा करके तथा शिर को नीचे किए बैठे हुए पुरुष की जिसकी पीठ खिंची हुई हो पृष्ठशिरा को वेधे। अर्थात् शिर को नीचे झुकाने से तथा स्कन्ध आदि को बाहिर की ओर खींचने से पीठ की मांसपेशियां खिंच जाती हैं और शिरा दीखने लगती है ॥ ११ ॥

उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य ॥ १२ ॥

पेट और छाती की शिराओं की वेधविधि—शिर को ऊंचा अकड़ाये छाती को फैलाये हुए पुरुष की, जिसकी देह (मध्यशरीर) खिंची हुई हो पेट और छाती की शिराओं का वेध करे। यहां पर भी उपर्युक्त विधान के अनुसार पेट और छाती की मांसपेशियां खिंच जाती हैं और शिरायें दीखने लगती हैं ॥ १२ ॥

बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः ॥ १३ ॥

पार्श्वशिरावेधविधि—बाहु से लटकते हुए शरीर की पार्श्व की शिराओं का वेध करे। लटकने के लिये वृक्ष की सीधी शाखा अथवा Horizontal bar अच्छा है ॥ १३ ॥

अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे ॥ १४[1] ॥

मेढ्रशिरावेधविधि—मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) को किंचित् झुकाकर मेढ्रपर शिरा वेध करे। परन्तु नीचे झुकाने से पूर्व शिश्न हर्षावस्था में होना चाहिये ॥ १४ ॥

उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् ॥ १५ ॥

जिह्वाशिरावेधविधि—पुरुष जीभ को ऊपर अन्दर की ओर मोड़कर दांतों से जिह्वाग्रभाग को दबा रखे। तब वैद्य जिह्वा के नीचे शिरावेध करे ॥ १५ ॥

अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च ॥ १६ ॥

तालु एवं दन्तमूल की शिराओं के वेध की विधि—मुख को अत्यन्त चौड़ा खोले हुए पुरुष के तालु अथवा दन्तमूलों में शिरावेध करे ॥ १६ ॥

एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च[2] सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वैद्य को चाहिये कि वह शिराओं को उठाने के लिये अन्य यंत्र और उपायों को बुद्धि पूर्वक सोचकर शरीर और रोग के अनुसार प्रयोग में लावे ॥ १७ ॥

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्येष्व[3]र्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन ॥ १८ ॥

मांसल स्थलों पर जौ के बराबर गहरा शस्त्र प्रवेश करे। दूसरी जगहों पर आधे जौ के बराबर अथवा व्रीहिमुख शस्त्र से व्रीहि (धान्य) परिमाण वेध करे ॥ १८ ॥

अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम् ॥ १९ ॥

हड्डियों के ऊपर आधा जौ के परिमित गहरा कुठारिका नामक शस्त्र से वेध करना चाहिये ॥ १९ ॥

---

१ अवनामितमेढ्रस्य आनमितमेढ्रस्य वक्रीकृतमेढ्रस्येतियावत् । इति हाराणः । अवनामितमेढ्रस्येति स्तब्धमेव अवनामितं मेढ्रं यस्य इति डल्हणः ॥

२ 'बन्धोपायान्' इति पा० । ३ अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं' इति पा० ।

भवन्ति चात्र ।

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत (त्तु) ग्रीष्मकाले तु शीतले ॥
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥ २० ॥

वर्षा ऋतु में जिस दिन बादल न हों, ग्रीष्म ऋतु में ठण्डे दिन या ठण्डे समय (प्रातः या सायं), हेमन्त ऋतु में दोपहर के समय वेध करना चाहिये । शस्त्रों के प्रयोग के ये ही तीन समय हैं । अर्थात् जिस समय वायुमण्डल का तापपरिमाण न बहुत ऊंचा हो न बहुत कम हो उस समय शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक् ॥
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत् ॥ २१ ॥

सुविद्धा का लक्षण–शस्त्रके सम्यक् प्रयोग से जब रुधिर धारारूप में बहे और कुछ काल बहकर रोकने पर रुकजाय तो शिरा को सुविद्धा (अच्छी प्रकार होगया है वेध जिसका ऐसा) जानना चाहिये ॥ २१ ॥

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका ॥
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥ २२ ॥

जैसे कुसुम्भ के फूल को तोड़ने पर पहले २ पीला २ सा रस बहता है, उसी प्रकार शिराओं को वेध करने से पहिले दुष्ट रक्त बहा करता है ॥२२॥

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च ॥
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः ॥ २३ ॥

मूर्च्छित (बेहोश), अत्यन्त डरे हुए, थके हुए, प्यासे पुरुष की शिराओं को विद्ध करने से रक्त नहीं निकलता । इसीप्रकार यदि शिराओं को न उठाया जाय अथवा यन्त्रण न किया जाय तो भी ठीक प्रकार से रक्त नहीं निकलता ॥ २३ ॥

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च ॥
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या सोऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा ॥ २४ ॥

क्षीण, अत्यन्त दोष युक्त और मूर्च्छा से आक्रान्त पुरुष को अपराह्ण, दूसरे दिन अथवा तीसरे दिन शिराविस्रावण (फस्त खोलना) कराना

१ 'विहतस्य' इति पा० । २ 'ह्यपरेद्युः' इति पा० ।

चाहिये ॥ २४ ॥

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः ॥
न चातिप्रस्रुतं[1] कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि चाहे रक्त में कुछ दोष अवशिष्ट रह जाय, परन्तु रक्त का अतिस्राव (अधिक परिमाण में निकालना) न करावें। और जो दोष बच जाय उसे संशमन चिकित्सा द्वारा शान्त करें ॥२५॥

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ॥
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं[2] शोणितमोक्षणे ॥ २६ ॥

बली अत्यन्तदोष युक्त तथा पूर्ण युवा पुरुष के रक्तमोक्षण का उत्तम (अधिक से अधिक) परिमाण एक प्रस्थ माना गया है। अर्थात् यदि युवा तथा बलवान् पुरुष के रक्त में दोष अत्यन्त फैल जाय तो अधिक से अधिक १ प्रस्थ (१३॥ पल) रक्त का निर्हरण करना चाहिये। परन्तु आजकल के पुरुषों के लिये यह मात्रा हानिकर एवं घातक होगी। अतः यहांपर यह श्लोक इस प्रकार पढ़ना चाहिये—

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति कुडवं रक्तमोक्षणे ॥

अर्थात् अधिक से अधिक रक्तनिर्हरणकी मात्रा सुश्रुतमानके अनुसार १ कुडव (१६ तोले) होनी चाहिये ॥ २६ ॥

तत्र पाददाहपादहर्षावबाहुक[3]चिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत् ॥ २७ ॥

रोगानुसार शिरावेधस्थान-पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प Erysepalus) वातरक्त (Gout) वातकण्टक, विचर्चिका, (Weeping eczema), पाददारी (बिवाई) प्रभृति रोगों में क्षिप्र नामक मर्म से दो अंगुल ऊपर व्रीहिमुख नामक शस्त्र से शिरावेध करे ॥ २७ ॥

१ 'निःस्रुतं' इति पा०। २ वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥
३ केनचिदत्रावबाहुकोऽपि पठ्येत, तन्न समीचीनं, प्रतिकारविधावस्य व्यधने जिहासितत्वात्' इति हाराणचन्द्रः। 'चिप्प' इति क्वचिन्न पठ्यते।

श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते ॥ २८ ॥

श्लीपद में श्लीपदचिकित्सा में जैसा कहा जायगा वैसा करे ॥२८॥

क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले ॥ २९ ॥

अपच्यामिन्द्रवस्तेरधस्ताद् व्यङ्गुले ॥ ३० ॥

क्रोष्टुशीर्ष, खञ्जता पंगुता (वात के कारण लंगड़ापन) तथा वातवेदनाओं (Neuralgia etc.) में गुल्फ से चार अंगुल ऊपर जङ्घा में शिरावेध करे॥२९॥

अपची (Tuberculousglands) में इन्द्रबस्ति नामक मर्म से दो अंगुल नीचे शिरावेध करना चाहिये ॥ ३० ॥

जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्याम् ॥ ३१ ॥

गृध्रसी (Sciatica) में जानुसन्धि (घुटने) से दो अंगुल ऊपर वा नीचे शिरावेध करना चाहिये॥ ३१ ॥

ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥३२॥

गलगण्ड में ऊरूमूल में आश्रित शिरा का वेध करना चाहिये। इसी से दूसरी टांग और दोनों बाहुओं की भी व्याख्या होगई ॥ ३२ ॥

विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो[1] बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा ॥ ३३ ॥

विशेषतः प्लीहारोग में अन्दर की ओर से वामबाहु के मध्य में कूर्पर (कोहनी) सन्धि पर अथवा कनिष्ठिका (छोटी अंगुली) और अनामिका अंगुली के मध्यदेश में शिरावेध करें ॥ ३३ ॥

एवं दक्षिणबाहौ यकृद्दाल्ये[2] (कफोदरे[3] च), एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति ॥ ३४ ॥

---

१ कूर्परसन्धेरित्यत्र सन्धिशब्देन सन्धिसमीप उच्यते। सन्धौ शस्त्रप्रणिधानस्य निषिद्धत्वात्। इति डल्हणः॥

२ 'यकृदाख्ये' इति पा०।

३ 'अत्र' 'यकृद्दाल्ये कफोदरे च' इत्यनाकरः पाठः कफोदरे सिराव्यधस्यानुपयोगात्' इति हाराणचन्द्रः।

इसीप्रकार यकृद्दाल्य नामक रोगमें दक्षिण बाहुमें शिरावेध करनाचाहिए। कास श्वास में भी इन्हीं शिराओं के वेध का आदेश कई आचार्य करते हैं॥३४॥

गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम् ॥ ३५ ॥

गृध्रसी के समान ही विश्वाची में बाहु में शिरावेध किया जाता है अर्थात् कोहनी के ऊपर या नीचे चार अंगुल देश में वेध करना चाहिये ॥ ३५ ॥

श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्याम् ॥ ३६ ॥

शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणि से चारों ओर दो २ अंगुल स्थल में शिरावेध करना चाहिये ॥ ३६ ॥

परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये ॥ ३७ ॥

परिवर्त्तिका, उपदंश, शूकदोष तथा वीर्यरोगों में मेढ़् के मध्य में शिरावेध करना चाहिये ॥ ३७ ॥

(वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे)[1] ॥३८ ॥

मूत्रवृद्धि में वृषणों-अण्डों के एक पार्श्व में और जलोदर में नाभि से चार अंगुल नीचे के देश में सेवनी के बांयी ओर वेध करे । परन्तु शिरावेध में इनका पढ़ना असंगत ही है ॥ ३८ ॥

वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च[2] ॥ ३९ ॥

अन्तर्विद्रधि और पार्श्वशूल में वामपार्श्व में कक्षा और स्तन के बीच में शिरावेध किया जाना चाहिये ॥ ३९ ॥

[3]बाहुशोषाववाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे ॥ ४० ॥

---

१ 'अहोगुरोरश्रुतसुश्रुतः कश्चित् मूत्रवृद्ध्यां दकोदरे च दोषोदकावसेचनार्थं विधित्सिते व्यधने एव सिराव्यधो मन्यमानोऽत्र 'वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां' तथा 'नाभेश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे' इत्यश्रुतपूर्वमसमञ्जसमाचक्षाणः स्वस्यैवाश्रुतत्वमदृष्टकर्मत्वमस्थानवादित्वेन पुनर्व्यध्यशिरत्वं चाख्यापयतीति' इति हाराणचन्द्रः ।

२ अस्याग्रे 'एतामेव कफोदरे वामपार्श्वे' इत्याधिकं पठ्यते क्वचित्पुस्तके ।

३ शोणितावृतवातजनितयोर्बाहुशोषाववाहुकयो रप्यंसयोः सिराव्यधः, न तु केवलवातकृतयोरित्येके वदन्ति । परमतं चाप्रतिषिद्धामनुमतमेवेति जेज्जटाचार्यः।गयदासस्तु "बाहुमध्ये बाहुशोषाववाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे" इति पठित्वाव्याख्याति—बाहुशोषाववाहुकयोर्बाहुमध्ये कूर्परांसयोर्मध्ये इत्यर्थः मतान्तरमाह—एके वदन्त्यंसयोरन्तर इति ।इति सुश्रुतटीकायां डल्हणः।

"बाहुशोष और अवबाहुक में अंसों के मध्यदेश में शिरावेध करना चाहिये" ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ ४० ॥

त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके ॥ ४१ ॥

तृतीयक में त्रिकसन्धि के बीच की शिरा को वेधे ॥ ४१ ॥

अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके ॥ ४२ ॥

चतुर्थक में स्कन्धसन्धि के नीचे स्थित किसी भी पार्श्व की शिरा को वेधें ॥ ४२ ॥

हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे ॥ ४३ ॥

अपस्मार में हनुसन्धि के बीच में गुज़रने वाली शिरा का वेध करें ॥ ४३ ॥

शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषून्मादेऽपस्मारे[1] च ॥४४॥

उन्माद और अपस्मार में शङ्ख एवं केशान्त सन्धि से गुज़रने वाली और छाती, अपाङ्ग तथा मस्तक से गुज़रने वाली शिराओं का वेध करें ॥४४॥

जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च ॥ ४५ ॥

जिह्वारोग तथा दन्तरोगों में जिह्वा के नीचे शिरावेध करें ॥ ४५ ॥

तालुनि तालव्येषु ॥ ४६ ॥

तालुरोगों में तालु में शिरावेध करें ॥ ४६ ॥

कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च ॥ ४७ ॥

कानदर्द और कान की बीमारियों में कान के ऊपर चारों ओर शिरावेध का स्थान है ॥ ४७ ॥

गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे ॥ ४८ ॥

गन्ध न आने और दूसरे नाक के रोगों में नाक के अग्रभाग में शिरावेध करे ॥ ४८ ॥

तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वक्ष्यामयेषूपनासिके लालाटयामपाङ्ग्यां वा, एता एव च शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥ ४९ ॥

---

१ केचिदत्र 'अपस्मारे च" इति न पठन्ति कथयन्ति, च—यतो हि "उरोऽपाङ्गललाटस्थामुन्मादेऽपस्मृतौ पुनः । हनुसन्धौ समुद्भूतां सिरां भ्रमध्यगामिनीम् ।" इति सिराव्यधप्रकरणोक्ते श्लोके अष्टाङ्गहृदयकारो वाग्भटाचार्यः पुनरिति पदेन अपस्मृतिं व्यवच्छिद्य हनुसन्धिसमुद्भूतामेव शिरां व्यधनार्थमादिशति न तु उरोऽपाङ्गललाटस्थामपि ।

तिमिर, अक्षिपाक प्रभृति रोगों में नाक के पास की (उपनासिका) दोनों शिरायें, ललाटी (मस्तक की) तथा अपाङ्गी (अपाङ्ग की) शिराओं का वेध करे और इन्हीं शिराओं का शिरोरोग तथा अधिमन्थ प्रभृति रोगों में भी वेध किया जाता है ॥ ४९ ॥

अत ऊर्ध्वं दुष्टव्यधनमनुव्याख्यास्यामः, तत्र दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रसुताऽत्युदीर्णाऽन्तेऽभिहता परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनःपुनर्विद्धा मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः ॥ ५० ॥

अब दुष्टवेध की व्याख्या की जायगी—

ये दुष्ट वेध २० प्रकार के हैं । यथा—१—दुर्विद्ध, २—अतिविद्ध, ३—कुञ्चित, ४—पिच्चित, ५—कुट्टित, ६—अप्रस्रुत, ७—अत्युदीर्ण, ८—अन्तेऽभिहत, ९—परिशुष्क, १०—कूणित, ११-वेपित, १२—अनुत्थितविद्ध, १३—शस्त्रहत, १४—तिर्यग्विद्ध, १५—अपविद्ध, १६—अव्यध्य, १७—विद्रुत, १८—धेनुका, १९—पुनः पुनः विद्ध और २० मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि आदि में विद्ध ॥ ५० ॥

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा ॥ ५१ ॥

दुर्विद्धा शिरा का लक्षण—जो शिरा सूक्ष्म शस्त्र से वेधी गई हो, जिस से अस्पष्ट तौर पर रुधिर निकलता हो और जिसमें वेदना और शोफ हो; उसे दुर्विद्ध जानना चाहिये ॥ ५१ ॥

प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा ॥ ५२ ॥

अतिविद्धा का लक्षण—प्रमाण से अधिक वेधी जाने के कारण जिसमें रक्त अन्तःप्रविष्ट होगया हो, अथवा बहुत अधिक परिमाण में निकले तो उस शिरा को अतिविद्ध जानना चाहिये ॥ ५२ ॥

कुञ्चितायामप्येवम् ॥ ५३ ॥

१ 'अन्तेविद्धा' इति पा०। २ 'न व्यक्तमसृक्' इति पा०। ३ 'अतिप्रवृत्तशोणिता' इति पा०।

कुञ्चिता का लक्षण—इसमें भी अतिविद्धोक्त लक्षण होते हैं ॥५३॥

कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता ॥ ५४ ॥

पिच्चिता का लक्षण—कुण्ठित (जो तेज़ न हो) शस्त्र के प्रयोग से जो शिरा कुचली जाकर चौड़ी होगई हो, उसे पिच्चिता कहते हैं ॥५४॥

अनासादिता पुनः पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता ॥५५॥

कुट्टिता का लक्षण—जो शिरा मिली न हो (अनुत्थित होने से) परन्तु अनुमान से ही उसके दोनों पार्श्वों के सिरों पर बार २ शस्त्र का प्रयोग किया जाय उसे कुट्टिता कहते हैं ॥ ५५ ॥

शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रस्रुता ॥ ५६ ॥

अप्रस्रुता का लक्षण—शीत, भय अथवा मूर्च्छा के कारण यदि शिरा से रक्त न निकले तो उसे अप्रस्रुता जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा ॥ ५७ ॥

अत्युदीर्णा का लक्षण—तीक्ष्ण (तेज़) एवं महामुख (बड़े मुख वाले) शस्त्र द्वारा वेध की गई शिरा अत्युदीर्णा कहाती है ॥ ५७ ॥

अल्परक्तस्राविण्यन्ते विद्धा अन्तेऽभिहता ॥ ५८ ॥

अन्तेऽभिहता का लक्षण—जिन शिराओं को अन्त (अन्तिम सिरा) पर वेध किया गया हो, और अतएव थोड़ा रक्त निकलता हो, उन्हें अन्तेऽभिहता कहते हैं ॥ ५८ ॥

क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का ॥ ५९ ॥

परिशुष्का—जिस मनुष्य का रक्त क्षीण होगया हो (Anœmic) उसकी वातपूर्ण शिरा को परिशुष्का कहते हैं। अर्थात् रक्त न होने के कारण शिरा में रक्त न आता हो, वह सुकड़ जायगी और तर न रहेगी अपितु खुश्क होगी उसे परिशुष्का कहते हैं ॥ ५९ ॥

चतुर्भागा [व] सादिता किंचित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता ॥६०॥

कूणिता का लक्षण--चतुर्थभाग को प्राप्त हुई २ जिससे किञ्चित् (अत्यल्प परिमाण में) रुधिर बहता हो, उसे कूणिता जानना चाहिये। अर्थात् शस्त्र द्वारा यदि रक्तवाहिनी की तीन पर्त तो कटजायं पर अन्दर की चौथी पर्त या शोणितधरा कला (Endothelium)न कटी हो तो परि-

णाम यह होगा कि ऊपर की पर्तों के मांसादि धात्वंशों (Tissues) के स्थितिस्थापक (elastic) होने के कारण वह सुकड़ेंगी और सुकड़ने से शोणितधरा कला खिंचेगी जिस से शिरा पतली होजायगी। इस कला में से रक्त अत्यल्प परिमाण में रिस जायगा ॥ ६० ॥

दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता॥६१॥

वेपिता का लक्षण--यथास्थान शिरा को न बांधने से कांपती हुई उस शिरा में रक्त रुका रहता है अर्थात् बाहिर नहीं निकलता उसे वेपिता कहते हैं ॥ ६१ ॥

अनुत्थितविद्धायामप्येवम् ॥ ६२ ॥

अनुत्थितविद्धा का लक्षण--अनुत्थितविद्धा अर्थात् जो शिरा उठी न हो उसे वेधने में भी उपरोक्त लक्षण होते हैं ॥ ६२ ॥

छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता ॥६३॥

शस्त्रहता का लक्षण--शस्त्र अर्थात् तलवार आदि के प्रहार से कट कर शिरा के दो टुकड़े होजाने पर रक्त अत्यधिक परिमाण में निकलता है और अतिरिक्तस्राव-जन्य उपद्रव खड़े होजाते हैं, अथवा रोगी हाथ पैर आदि नहीं हिलासकता ॥ ६३ ॥

तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यग्विद्धा ॥६४॥

तिर्यग्विद्धा का लक्षण--जब शस्त्र का प्रयोग तिर्यग् (आडे) रूप से किया गया हो, जिससे शिरा की परिधि का बहुत सा भाग कट गया हो और थोड़ा सा जुड़ा हुआ बाकी हो, उसे तिर्यग्विद्धा कहते हैं ॥६४॥

बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा ॥ ६५ ॥

अपविद्धा का लक्षण--हीन (कुण्ठित आदि दोष युक्त) शस्त्र के प्रयोग से जिसपर बहुशः चोट दी गई हो, वह अपविद्धा कहाती है ॥६५॥

अशस्त्रकृत्या अव्यध्या ॥ ६६ ॥

१-क्रियासङ्गकरी-बन्धनायोजिता सती क्रियाणां शोणितवर्णनीयोक्तानां शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तानां शिरोऽभितापादीनां सम्बन्धं करोति । सङ्गो मेलनं सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम् । इति हाराणचन्द्रः । डल्हणस्त्वन्यथा व्याचष्टे-क्रियासंगकरीति गमनादिक्रियाविनाशकरी ।

अव्यध्या का लक्षण--जो शिरा शस्त्रकर्म के अयोग्य हो, उसे अव्यध्या कहते हैं ॥ ६६ ॥

अनवस्थितविद्धा विद्रुता ॥ ६७ ॥

विद्रुता का लक्षण—चञ्चल शिरा को वेधने से उस विद्ध शिरा का नाम विद्रुता होता है ॥ ६७ ॥

प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहव्यधा[1] मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका ॥ ६८ ॥

धेनुका का लक्षण—वैद्य के कर्म में दक्ष न होने के कारण व्यध्यदेश पर बहुशः अवघट्टन (ताडना—चोट—शस्त्रपद) अर्थात् शस्त्रकर्म करते हुए हाथ के कांपने से अन्तःप्रविष्ट हुए शस्त्र के अनेकशः हिल जाने से शिरा लम्बाई के रुख काटी गई हो और उस में से बारंबार रुधिर निकलता हो, उसे धेनुका कहते हैं ॥ ६८ ॥

सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना[2] पुनःपुनर्विद्धा ॥ ६९ ॥

पुनःपुनर्विद्धा का लक्षण—शस्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म होने से वेध को उचित परिमाण में करने के लिये जिस शिरा में बारंबार वेध कियाजाय उसे पुनःपुनर्विद्धा कहते हैं ॥ ६९ ॥

मांसस्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ॥ ७० ॥

मांसादिमर्मविद्धा का लक्षण-मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि तथा सन्धि के मर्मों पर वेध होने से रुजा (अत्यन्तवेदना); शोष (अंग का सूख जाना), विकलता अथवा मृत्यु होजाती है ॥ ७० ॥

भवन्ति चात्र।

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः ॥
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥ ७१ ॥

शिराओं के परिज्ञान में निपुणता प्राप्त होना कठिन है, चूंकि ये

१-आरोहो दैर्घ्येणोपलक्षितो व्यधो यस्याः सा आरोहव्यधा आरोहद्व्यधेति पाठान्तरे तु उपर्युपर्यारोपितशस्त्रपदा। अतएव तैः शस्त्रपदैर्धेनुस्तनैरिव स्रवणात् धेनुका ॥

२ 'विच्छिन्ना' इति पाठान्तरम्।

स्वभावतः ही चञ्चल होती हैं। ये अपनी जगह को मछली की तरह परिवर्तन कर लिया करती हैं। अतः इनका वेध प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये॥७१॥

अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते ॥
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥ ७२ ॥

शल्यविज्ञान अथवा शिराविज्ञान को न जानने वाला चिकित्सक यदि शरीर पर शस्त्र प्रयोग करता है, तो ऊपर की कही विपत्तियां और बहुत से उपद्रव खड़े होजाते हैं॥ ७२॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि ॥
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात् ॥ ७३ ॥

स्नेह, स्वेद आदि क्रियाओं से तथा लेप आदि द्वारा रोग उतनी जल्दी शान्त नहीं होते, जितनी जल्दी सम्यक् प्रकार से किये गये शिरा वेध से शान्त होते हैं ॥ ७३ ॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं¹ शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः ॥
यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार कायचिकित्सा में सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त की हुई वस्ति को चिकित्सा का आधा कहा गया है, उसी प्रकार शल्यतन्त्र (Surgery) में शिरावेध को चिकित्सा का आधा बताया गया है। अर्थात् शल्यतन्त्र में शिरावेध अत्यन्त मुख्य है ॥ ७४ ॥

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरिक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते। एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ ७५ ॥

स्निग्ध, स्विन्न, वान्त (जिसको वमन कराया हो), विरिक्त (जिसे विरेचन कराया हो), आस्थापित (जिसे रूक्षवस्ति दी हो,) अनुवासित (जिसे अनुवासन अर्थात् स्निग्ध वस्ति कराई हो) तथा जिस के शिरावेध किया गया हो, वह जबतक बलवान् न हो, तबतक क्रोध, परिश्रम,

१–शोणितावसेचनस्य प्राधान्यं दर्शयतोक्तं केनापि–'मांसमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात्। धमन्यश्च विशुध्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः। रसस्वेदादिनिष्यन्दाद्विशुध्यन्ति न पुष्कलम्॥ २ '०दिवास्वप्नव्यायाम०' इति पा०।

मैथुन, दिन में सोना, ऊंचा अथवा बहुत बोलना, व्यायाम, घोड़े आदि की सवारी, खड़े रहना, बैठे रहना, अधिक चलना, ठंड, हवा (आंधी आदि), आतप (धूप या घाम), विरुद्ध एवं असात्म्य आहार विहार, अजीर्ण, आदि का परित्याग करना चाहिये । कई आचार्य कहते हैं कि इन बातों का एक मास तक ही परित्याग करना पर्याप्त है । इन का विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा ॥ ७५ ॥

भवतश्चात्र ।

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा ॥
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद्दुष्टशोणितम् ॥ ७६ ॥

शिरावेध, विषाण (सींगी लगाना), तुम्बी (Cupping) जोंकों तथा पद अर्थात् प्रच्छान (पंजाबी में इसे पछना कहते हैं) से अन्तः गये हुए दुष्ट रक्त का यथापूर्व प्रकार से निकाले । अर्थात् यदि रक्तदोष त्वचा में ही है तो प्रच्छान से, यदि उस से गभीर देश में है तो जोंकों से यदि उससे भी अवगाढ़ अर्थात् गभीर देश में दुष्ट रक्त है तो तुम्बी से, यदि उससे भी अन्तःदेश में रक्तदुष्टि है तो विषाण से और यदि दोष अवगाढ़तम है तो शिरावेध (फस्त खोलना) द्वारा दुष्ट रक्त का निर्हरण करना चाहिये ॥७६॥

अवगाढे जलौकाः स्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम् ॥
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥७७॥

इति अष्टमोऽध्यायः ॥

रक्तनिर्हरण के विषय में दूसरा मत इस प्रकार है कि दुष्टरक्त यदि अवगाढ़ हो (परन्तु बहुत जगह व्यापक न हो) तो जोंकों द्वारा, यदि रक्त पिंडित (जमा हुआ, Clotted) हो तो प्रच्छान द्वारा, यदि सम्पूर्ण अंग में दुष्टरक्त व्याप्त हो तो शिरावेध द्वारा, यदि त्वचा में ही रक्तदुष्टि हो तो सींग और तुम्बी द्वारा रक्त निर्हरण करना चाहिये ॥७७॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने अष्टमोऽध्यायः ।

———

नवमोऽध्यायः ।

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब धमनीव्याकरण नामक शारीर की व्याख्या की जाती है ॥१॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः । तत्र केचिदाहुः- सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति । तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः, कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च, केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ २ ॥

इस शरीर में मुख्य २४ धमनियां कही गई हैं, जिनका उत्पत्तिस्थान नाभि है। कई आचार्यों का मत यह है, कि शिरा, धमनी एवं स्रोत एक ही हैं अर्थात् धमनी और स्रोत शिराओं के विकार (शिराओं से उत्पन्न होने वाले या बने हुए) ही हैं। उनका यह मत ठीक नहीं हैं। धमनियां और स्रोत, शिराओं से भिन्न ही हैं; क्योंकि इनकी आकृति अथवा चिन्ह परस्पर भिन्न हैं; इनके मूलों की पृथक् २ उपलब्धि होती है तथा च इनके कर्म भी भिन्न २ हैं। "सिरास्नायुधमनीः परिहरन्" तथा "सिराधमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च" इत्यादि शास्त्र में भी इनका नाम पृथक् २ ही लिया गया है। परन्तु इनके कर्मों के भिन्न होने पर भी परस्पर सम्बन्ध के कारण,

---

१ व्यञ्जनान्यत्वाल्लक्षणान्यत्वात्; तत्र सिराणां वातादिवहानामरुणनीलशुक्ललोहितवर्णत्वं लक्षणं, शब्दादिवहधमनीनां तु वर्णानुक्तेः स्वधातुसमवर्णत्वं, एवं स्रोतसामपि। तदुक्तं चरके-स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या" इत्यादिकम्। इति डल्हणः।

२ सदृशागमत्वादिति आप्तानां वचनमागमः, तस्य सदृशत्वात्। तथा हि-"आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्य' इत्याप्तोपदिष्टेन सिरादिसादृश्येन न निर्धार्य ज्ञायते सिरादिषु कस्येदं तोयादिवहनं कर्म। सदृशकर्मत्वाच्च यथा सह गायतां गायकानां भिन्नगीतक्रियाणामप्यभिन्नगीतक्रियात्वप्रतीतिः। इति डल्हणटीका।

३ सौक्ष्म्याद्यथा—घटस्थितमृत्परमाणूनां प्रत्येकमुदकाहरणं कुर्वतामेकक्रियाकारित्वप्रतीतिः।

इनके प्रसार और धातुवहन रूप कर्म के तुल्य (सजातीय) होने से तथा सूक्ष्म होने के कारण अर्थात् यन्त्र की सहायता के विना इनकी आकृति तथा स्वरूप का पार्थक्येन सम्यक्तया परिज्ञान न होने के कारण कर्मों में अविभाग दीखता है। भगवान् आत्रेय ने परस्पर भिन्नता दर्शाते हुए कहा है—"धमानाद्धमन्य: स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्सिरा:" अर्थात् वायुपूर्ण होने के कारण धमनी, रस आदि के क्षरण करने से स्रोत, और रक्त के वहन करने से सिरा कहलाती हैं। अर्थात् वस्तुत: ये तीनों भिन्न २ हैं, परन्तु आकृति में अन्त:सुषिरत्व की समानता से ही कई आचार्यों ने इन्हें एक ही अथवा एक से ही बनने वाला माना है। अतएव वृद्ध वाग्भट कहा है:—

अपरे पुनराहु: स्रोतांसि सिराधमन्यो रसवाहिन्यो नाड्य: पन्थानोऽयनानि मार्गा: शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया: क्षया निकेताश्चेति शरीरे धात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि।

अर्थात् स्रोत आदि नाम धातुगत अवकाशों (खाली जगहों) के हैं॥२॥

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्य:, चतस्रस्तिर्यग्गा: ॥ ३ ॥

इन नाभि से उत्पन्न होने वाली (गर्भावस्था में) २४ धमनियों में से दस शरीर के ऊपर के भाग में जाती हैं, दस नीचे के भाग में और चार तिर्यग् रूप से पार्श्वों में जाती हुई उन २ स्थलों का तर्पण करती हैं॥३॥

ऊर्ध्वगा: शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन्विशेषानभिवहन्त्य: शरीरं धारयान्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां, भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहत: स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहत:, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याता:। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोर:स्कन्धग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ४ ॥

१ नाभिरेव प्रभव उत्पत्तिस्थानं यासां ता: नाभिप्रभवा: तासां न तु नाभित: प्रसृतानाम्।

ऊपर जाने वाली शब्द (कर्णगत धमनी), रूप (चक्षुगत), रस (जिह्वा-गत), गन्ध (नासिकागत), प्रश्वास, उच्छ्वास (फुप्फुस आदि देश-गत) जम्भाई, छींक, हंसना, बोलना एवं रोने आदि कर्मों का अभिवहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं।

ये दस धमनियां हृदयदेश पर पहुंचती हुई तीन २ शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। अर्थात् इनकी शाखा प्रशाखा मिलकर ३० हो जाती हैं। इनमें से दो २ वात, पित्त, कफ, रक्त तथा रस का अभिवहन करती हैं। इस प्रकार ये ५×२=१० हुईं।

आठ धमनियों द्वारा शब्द, रूप, रस तथा गन्ध का (इन्द्रियों द्वारा) ग्रहण होता है। दो धमनियों द्वारा भाषण करता है—बोलता है। दो दो द्वारा शब्द (अव्यक्त) करता है। दो द्वारा सोता है, दो द्वारा जागता है। दो आंसू पैदा करने वाली हैं और दो स्त्रियों के स्तनों में आश्रित हुई हुई स्तन्य अर्थात् दूध का अभिवहन करती हैं। इसी प्रकार पुरुष के स्तनों से शुक्र (वीर्य) का अभिवहन करती हैं।

स्तन से वीर्य के वहन करने का अभिप्राय यही है कि वृषणस्थित अण्डग्रन्थियों से जो अन्तःप्रसाद रस (Internal Secretion) निकला करता है, वह इन्हीं धमनियों द्वारा स्तन के चारों ओर आकर बाल (तथा अन्यत्र मूंछें आदि) आदि पुरुष—चिन्ह प्रकट करता है। इस प्रकार ऊर्ध्वगत शाखा प्रशाखा युक्त तीस धमनियों की व्याख्या करदी गई है। इनके द्वारा नाभि से ऊपर के पेट, पार्श्व, पीठ, कन्धे, ग्रीवा तथा बाहुओं का भी धारण होता है॥ ४॥

भवति चात्र।

ऊर्ध्वगमा [ता] स्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः॥
अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम्[1]॥ ५॥

ऊर्ध्वगत धमनियां ये सब कर्म करती हैं। अब अधोगत धमनियां और उनके कर्मों का वर्णन किया जायगा॥ ५॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु

१ 'यथातथम्' इति पा०।

पित्ताशयमभिप्र [ति] पन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवे-[रे] चयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति; अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां[1] तिर्यग्गाणां च, रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवे [रे] चयन्ति; आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा[2] जायन्ते, तास्त्रिंशत्; तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते[3] एव रक्तमभिवहतो [विसृजतश्च[4]] नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्यग्गाणां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति; तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरधो नाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ६ ॥

अधोगत धमनियां तो शरीर के अधोभाग में वात, मूत्र, पुरीष, वीर्य तथा आर्तव का वहन करती हैं। वे धमनियां पित्ताशय में पहुंच कर गरमी के कारण विपक्व (अच्छी प्रकार से पके हुए) अन्नपान के रस का विवेचन करके अभिवहन करती हुई शरीर का तर्पण करती हैं, और ऊर्ध्वगत एवं तिर्यग्गत धमनियों को रस देती हैं तथा च रसस्थान (रसाशय) को रस से पूर्ण करती हैं। मूत्र, पुरीष और स्वेद (पसीने) को पृथक् करती हैं अथवा बाहिर निकालती हैं। ये धमनियां आमाशय एवं पक्वाशय के मध्यदेश अर्थात् ग्रहणी (Duodenum) इत्यादि के पास आकर तीन २ शाखाओं में फट जाती हैं, इस प्रकार ये १०×३=३० हो जाती हैं। इनमें से दो २ वात, पित्त, कफ, रक्त एवं रस का अभिवहन करती हैं। इस प्रकार ये ५×२ = १० होती हैं। आंतों में आश्रित दो अन्नवाहिनी धमनियां हैं। तोयवह धमनियां दो हैं। मूत्रबस्ति (Bladder) में पहुंची हुई मूत्रवहा धमनियां दो हैं। शुक्रोत्पत्ति के लिये शुक्रवहा दो धमनियां हैं और दो शुक्रवहा धमनियां वीर्य का बहिःक्षरण कराने के

---

१ 'चोर्ध्वगतानां तिर्यग्गतानां इति पा०। २ 'त्रिविधा' इति पाठान्तरम्।
३ 'ता एव रक्तमभिवहन्ति' इति पा०। ४ 'विसृजतः' इति केषुचित्पुस्तकेषु नोपलभ्यते।

लिये हैं। ये ही धमनियां स्त्रियों में आर्त्तव नामक रुधिर का अभिवहन करती हैं, इनका नाम वहां आर्त्तववहा[1] होता है। मोटी आंत से संबद्ध दो वर्चोनिरसनी (पुरीष को बाहिर निकालने वाली) धमनियां हैं। शेष आठ धमनियां तिर्यग्गत धमनियों के स्वेद को अर्पण करती हैं।

इस प्रकार विभाग सहित इन तीस धमनियों की व्याख्या होगई। ये धमनियां नाभि के नीचे पक्काशय, कमर, मूत्र, पुरीष, गुदा, वस्ति (मूत्राशय), मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) तथा टांगों का धारण करती हैं और उन्हें जीवन देती हैं ॥ ६ ॥

भवति चात्र ॥

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ॥
तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥७॥

ये अधोगत धमनियां, उपर्युक्त सम्पूर्ण कर्म करती हैं। अब तिर्यग्गत (पार्श्वप्रसृत) धमनियों के ठीक २ कर्म बताये जांयगे ॥ ७ ॥

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसङ्ख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च,[2] तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तः शरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्कानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णाति;तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः॥८॥

चारों तिर्यग्गत धमनियों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर सैकड़ों और हज़ारों शाखाओं में बंटती जाती हैं, इस प्रकार ये अनगिनत होजाती हैं। इनके द्वारा यह सम्पूर्ण शरीर जाल के समान हुआ २ है, बंधा हुआ है और व्याप्त है। अर्थात् ये इतनी शाखाओं में फूटती हैं; कि जालाकार होजाती हैं। इन धमनियों के मुख लोमकूपों के साथ सम्बद्ध हैं, जिनके द्वारा स्वेद (पसीने) का अभिवहन करती हैं और अन्दर एवं बाहर रस द्वारा

---

१ हमने प्रथम आर्तववहा धमनी से Fallopian tubes का ग्रहण किया है। उन्हें वस्तुतः आर्तववह स्रोत कहना चाहिये। परन्तु उन दोनों नालियों में डिम्ब को गर्भाशय की ओर लाने का कार्य धमनियों के सहारे ही होता है॥

२ 'चापि संतर्पयन्ति' इति पा०।

सन्तर्पण करती हैं। इनके द्वारा ही अभ्यङ्ग (मालिश) परिषेक, अवगाहन तथा आलेपन आदि के वीर्य त्वचा में पक कर शरीर के अन्दर पहुंचते हैं। इनके द्वारा ही स्पर्श के सुख अथवा दुःख का ग्रहण होता है।

सम्पूर्ण अंगों में फैली हुई इन विभागसहित चारों तिर्यग्गत धमनियों की व्याख्या होगई ॥ ८॥

भवतश्चात्र[1]।

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च ॥
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ ९ ॥

जैसे मृणाल (कमलदण्ड) तथा बिसों (कमलमूल) में स्वभावतः ही छिद्र होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि के शरीर में भी धमनियों के छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा रस का उपचय हुआ करता है ॥ ९॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः[2]
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ॥
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥ १० ॥

पांच महाभूतों से उत्पन्न हुई २ धमनियां पांचों इन्द्रियों को अपने पांचों अधिष्ठानों पर पांच करके अर्थात् पांचों को पृथक् २ भावित करती हैं। मृत्यु के समय पांचों इन्द्रियों को पांचों महाभूतों में मिलाकर पंचता को प्राप्त होती हैं, नष्ट होजाती हैं। अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पांचों गुणों से व्याप्त अथवा आकाश आदि पञ्चमहाभूतों से व्याप्त धमनियां पञ्चेन्द्रिय (पांच हैं इन्द्रियां जिसमें) अर्थात् कर्मपुरुष को श्रोत्र आदि पांचों इन्द्रियस्थानों पर पांच बार संयुक्त करती हैं। और विनाशकाल में सूक्ष्म रूप पांचों इन्द्रियों को आकाश आदि पञ्चमहाभूतों में मिलाकर नष्ट होजाती हैं। अभिप्राय यह है कि यद्यपि सभी धमनियां पांच महाभूतों से उत्पन्न हुई हैं और अतएव सब धमनियों को एक ही कार्य करना चाहिये, परन्तु पृथक् २ इन्द्रियाधिष्ठानों में

---

१ 'भवतश्चात्र' इति हस्तलिखितपुस्तकेषु नोपलभ्यते।

२ पञ्चाभिभूताः पञ्चेन्द्रियाण्याभिमुख्येन प्राप्ताः पञ्चेन्द्रियप्रसृता इति यावत्। इति हाराणः।

जाकर वहां २ की इन्द्रियों से संयुक्त होकर पृथक् २ कार्य करती हैं। कान में जाकर सुनने का, आंख में जाकर देखने का, जिह्वा में रसास्वाद का, नाक में गन्धज्ञान का और त्वचा में स्पर्शज्ञान का कार्य करती हैं। इसका कारण केवल यही है कि उन २ इन्द्रियाधिष्ठानों में स्थित उन २ इन्द्रियों में उन २ आकाश आदि भूतों की प्रधानता होती है और अतएव उन २ भूतों के गुणों का जो कि इन्द्रियों के विषय होते हैं, उन २ इन्द्रियों से ग्रहण होता है। और मृत्यु के समय पांचभौतिक शरीर वा इन्द्रियों के अपने २ भूतों के भाग अपने २ भूतों में जा मिलते हैं। अथवा पांचों इन्द्रियों में फैली हुई धमनियां पांचों शब्द आदि इन्द्रियविषयों में पांचों इन्द्रियों को पृथक् २ पांच वार भावित करती हैं। अर्थात् युगपत् ही सम्पूर्ण इन्द्रियविषयों का ज्ञान नहीं करातीं, पृथक् २ ही कराती हैं। अर्थात् मन के एक एवं अणु होने से जिसके साथ मन का संसर्ग होगा वहीं २ विषयज्ञान होगा अन्यत्र नहीं। विनाश के समय पांचों इन्द्रियों को (अथवा "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय द्वारा सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों को) प्राणादिपञ्चक (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) में पहुंचा कर अर्थात् उपसंहार करके स्वयं पञ्चत्व (मृत्यु, विनाश, पांचों भूतों में मिलजाना) को प्राप्त होजाती हैं ॥

यहां पर कइयों का यह विश्वास है कि इस ग्रन्थ में कम से कम धमनी शब्द से मुख्यतः वातनाडियों (Nerves) का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि इनका कर्म दर्शाते हुए शब्द, रूप तथा रस का अभिवहन करने वाली, मूत्र, पुरीष, एवं स्वेद को बाहिर निकालने वाली तथा स्पर्शजन्य सुख तथा दुःख का ग्रहण करने वाली, इत्यादि सम्पूर्ण कर्म वातनाडियों से ही सम्बद्ध बताये गये हैं, जैसा चरक के वातकलाकलीय नामक अध्याय में स्पष्ट किये गये हैं, जिन्हें हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीरगत सम्पूर्ण चेष्टाओं तथा ज्ञान का कर्ता वात है। वहां पर कहा गया है कि "वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा क्षेप्ता बहिर्मलानाम्, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्" इत्यादि। जिन से ये स्पष्ट है

कि यहां पर जितने कर्म दर्शाये गये हैं, वे सब वात के हैं। सुतरां धमनी शब्द से वातनाड़ियों का ही ग्रहण करना चाहिये। ध्मा धातु वायु पूरणार्थक है। अर्थात् धमनी वह है जो वात से पूर्ण है। वात प्रेरणा करती है। कहा भी है:—

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥

अब यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि विशुद्ध रक्त का वहन करने वाली (जिन्हें आज कल वैद्य धमनी (Artery) नाम से व्यवहृत करते हैं) कौनसी हैं? क्या उनका वर्णन आयुर्वेद में नहीं? उनके प्रति उत्तर यह है कि इस शास्त्र में वे रक्तवाहिनियां शिरा के अन्तर्गत ही समझी गई हैं। इनका वर्णन "शिरावर्णनाविभक्ति" नामक अध्याय में किया गया है। वहां "असृग्वहास्तु रोहिण्यः शिरा नात्युष्णशीतलाः" इस श्लोकार्द्ध द्वारा जिनका वर्णन है, वे ही विशुद्ध रक्त का वहन करती हैं। हमने इस बात को वहां स्पष्ट कर दिया है। वृद्धवाग्भट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है—"समा गूढाः स्निग्धाः रोहिण्यः शुद्धरक्तम्"।

अब यह शंका होती है कि रक्त का वहन करने वाली तो शिरायें हैं, तो यहां अधोगत तथा ऊर्ध्वगत धमनियों के कर्म दर्शाते हुए—"तासान्तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे २ वहतस्ता दश" ऐसा क्यों कहा? इस का उत्तर यह है कि वातस्थान पर वात का पोषण करने से वातवहा, पित्तस्थान पर पित्त का पोषण करने के कारण पित्तवहा, इसी प्रकार कफवहा, रक्तवहा और रसवहा को भी जान लेना चाहिये। क्योंकि—वात के प्रेरणात्मक होने से ये सब कार्य उस २ जगह पर हुआ करते हैं।

अन्य तन्त्रान्तरों में कहीं २ विशुद्ध रक्त का वहन करने वाली सिराओं (Arteries) को धमनी शब्द से कहा है, जैसे नाडी परीक्षा में—"अंगुष्ठमूलभागे या धमनी जीवसाक्षिणी" कहा है॥ १०॥

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः; एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः॥ ११॥

१ चरक में कहा है—अतिबहुत्वात्तु खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते।

इसके पश्चात् स्रोतों के मूलों के विद्ध होने पर जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनका उपदेश किया जायगा—

पहिले पञ्चम अध्याय में कहा जा चुका है कि योगवह स्रोत२२ हैं। उनका ही यहां निर्देश किया गया है। यद्यपि स्रोत तो अन्य भी हैं परन्तु यहां पर उन्हीं २२ योगवह स्रोतों का नाम तथा उनके मूलों के विद्ध होने पर लक्षण जताये जांयगे।

वे स्रोत ये हैं—प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह, आर्त्तववह। इन्हीं का ही यहां वर्णन है। ये प्रत्येक दो २ हैं, इस प्रकार २२ होते हैं। कई आचार्यों के मत से स्रोत बहुत हैं, परन्तु उन्हें इन्हीं का ही भेद जानना चाहिये ॥११॥

(१६० पृष्ठे लिखितस्य पञ्चाभिभूता इत्यादि श्लोकस्य टिप्पणीयम्।)

गयी त्वन्यथा व्याख्याति यथा—रूपादिग्राहिणीनां धमनीनां पञ्चत्वात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद् ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्कयाह–पञ्चाभिभूता इत्यादि। अस्यायमर्थः-पञ्चसु रूपादिषु पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं, पञ्च धमन्यो भावयन्ति वेदयन्ति, स्वयं तावत् पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विदन्ति, ताश्च पञ्चधमन्यस्तेषु वेदयन्ति, तत् कुतः पुनरिति हेतुगर्भं विशेषणमाह–अभिभूताः अभिमुखं प्राप्ताः। केन? 'मनसा' इति शेषः। कस्मात्? कर्तृमनःपुरःसरेन्द्रियार्थग्रहणात्। मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनी शब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरैवेन्द्रियप्रवृत्तिः। इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिग्राहिणीत्वमासां न पुनरतिदोषाभिपन्नस्य मरणेऽपीत्याह—पञ्चत्वमित्यादि। विशिष्टनाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चभौतिका विनाशकाले पृथक्पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चतां गता उच्यन्ते। पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियतस्वविषयग्राहित्वदर्शनार्थः। इत्यादि।

अन्ये तु "पञ्चादिभूतानथ पञ्चकृत्वा" इति पठन्ति, तेषां मते आदिभूतान्याकाशादीनि पञ्च महाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदिभूतानि विनाशकाले पञ्चत्वं आयान्ति। इति।

अपरे तु "पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चधा वा" इति पठित्वा व्याख्यानयन्ति–पञ्चाभिभूताः धमन्यः पञ्चेन्द्रियं बुद्धीन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं शब्दादिषु वचनादिषु च स्वकीयेष्वर्थेषु पञ्चसु भावयन्ति योजयन्ति। भावयित्वा च विनाशकाले पञ्चत्वं आयान्ति। अथवा पञ्चानामाकाशदहनपवनतोयभूमीनां पृथगभिमुख्येन भूता सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति।

तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च[1] धमन्यः, तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति ॥ १२ ॥

इनमें से प्राणवह स्रोत दो हैं। इन दोनों स्रोतों को हम वामपार्श्व-स्थित और दक्षिणपार्श्व स्थित फुप्फुस कह सकते हैं। इनका मूल हृदय और रसवाहिनी धमनियां हैं। इनमें वेध होने से रोगी चिल्लाता है, नम जाता है—झुक जाता है, मोहन अर्थात् संज्ञानाश या मूर्च्छा होती है, सिर चकराता है, कांपता है, अथवा मृत्यु होजाती है ॥ १२ ॥

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलान्नद्वेषौ छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं[2] मरणं च ॥ १३ ॥

अन्नवह स्रोत दो हैं—जिन्हें हम अन्नप्रणाली के वे दो भाग कह सकते हैं जिनमें से प्रथम जिह्वातल से गलदेश पर्यन्त चौड़ा भाग (pharynx) होता है और दूसरा गलदेश से लेकर आमाशय पर्यन्त पतला भाग (œsophagus) है; इन दोनों का मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियां हैं। यहां पर वेध होने से आध्मान (अफारा), शूल (पेट दर्द), अन्न द्वेष (भोजन खाने की इच्छा न होना), कै, प्यास, अन्धापन (या दृष्टि शक्ति का क्षीण होना) अथवा मृत्यु होजाती है ॥ १३ ॥

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

उदकवह स्रोत दो हैं; जिनमें से प्रथम अन्नप्रणाली का वह भाग जिसे हम गलनाडी कहते हैं और दूसरी कण्ठनाडी (Trachea) है। इनका मूल तालु और क्लोम (Pharynx) है।

यहां पर "क्लोम" को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। क्योंकि ये बहुत देर से विवाद का विषय है। आजकल के बहुत से वैद्य क्लोम शब्द से "Pancreas" नामक ग्रन्थि-जो आमाशय के नीचे है-का ग्रहण करते हैं। और उनके मत का पोषक केवल एक ही प्रमाण है, और वह यह है—"तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च"। अर्थात्

१ 'प्राणवाहिन्यश्च' इति पा०।
२ 'पिपासाऽसाध्या श्यावाङ्गता' इति पा०।

सुश्रुत शारीर स्थान के चतुर्थ अध्याय में बताया है कि हृदय के नीचे दक्षिण की ओर यकृत् और क्लोम हैं। परन्तु यहां पर भी कुछ न कुछ खींचातानी करके ही अर्थ निकालना पड़ता है। क्योंकि (Pancreas) भी प्रत्यक्षरूप से वामपार्श्व की ओर ही है, हां केवल उसकी नाडी दक्षिण पार्श्व की ओर ग्रहणी देश में आकर खुलती है। यदि यह मान भी लिया जाय तो क्या आचार्य को फुप्फुस का भी हृदय से नीचे और वामपार्श्व में होना ही अभिप्रेत है? यदि है, तो प्रत्यक्षविरोध होने से अप्रामाणिकता है। अन्यथा उसका अभिप्राय फुप्फुस को हृदय से निम्न भाग में मानने से नहीं है। इसी प्रकार क्लोम को भी निम्नदेशावस्थित नहीं स्वीकार कर सकते।

अब हमने शेष युक्तियां देखनी हैं कि वे किस ओर निर्देश करती हैं, चरक विमानस्थान में उदकवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण बताते हुए "जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां च" ऐसा पढ़ा है। जिससे यही प्रतीति होती है कि यह जिह्वादि के समीप की ही कोई जगह होनी चाहिये। यहां पर ही उदकवह स्रोत अर्थात् क्लोम के विद्ध होने से सद्यः मृत्यु होना भी बताया है।

चरक तृष्णाचिकित्सा में कहा है कि—"रसवाहिनीश्च नाडीर्जिह्वामूल-गलतालुक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ"। यहां पर भी जिह्वामूल आदि का इकट्ठा ही परिगणन है। और यहां यह भी निर्देश कर दिया है कि वात और पित्त के कारण जब यहां की रसवाहिनियां सूख जाती हैं तब प्यास लगती है।

अष्टाङ्गसंग्रह तथा चरक आदि में बताया है कि छाती ही विशेषतः श्लेष्मा का स्थान है और यहां से ही उदककर्म द्वारा शेष श्लेष्म स्थानों पर अनुग्रह होता है।

सुश्रुत शारीरस्थान अ० ५ में 'कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलसंज्ञाः अर्थात् क्लोमनाडी में मण्डल (Circular ring joints) संज्ञक सन्धि है। तथा "नाडीषु हृदयक्लोमनिबद्धास्त्वष्टादश" अर्थात् क्लोम से संवद्ध नाडी में अठारह अस्थियां हैं।

हृदय पर चोट से अथवा वातरोग से क्लोम का अपकर्षण (नीचे की ओर खिंचावट) होती है । चरक सिद्धिस्थान में कहा है "तत्र हृदयं ऽभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमापकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः" । साथ ही यहां पर जिन लक्षणों का परिगणन किया है वे हृदय से ऊपर के देश का (उत्तरोत्तर) परिज्ञान कराते हैं । यथा प्रथम कण्ठ (Larynx), क्लोम (Pharyux) जिह्वा, मुख, तालु, आदि ।

क्लोम में विद्रधि (Absess) हुआ करती है । चरक सूत्रस्थान अध्याय १७ में—"हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः । नाभ्यां वङ्क्षणयोर्वापि वस्तौ वा तीव्रवेदनः" कहा है ।

यहां पर यह तो कहा ही गया है कि उदकवह स्रोत दो हैं और उनका मूल तालु और क्लोम हैं । चरक में" उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च" कहा है । सुश्रुतने मोटी नालियों को स्रोत मानकर वर्णन किया है और चरक ने उन दोनों नालियों में जलांशको वहन करने वाली छोटी २ नालियों (ducts) को स्रोत मानकर लिखा है । अर्थात् मोटे तौर पर क्लोम से दो मोटी नालियां सम्बद्ध हैं ॥

हम इन उपर्युक्त युक्तियों से यही परिणाम निकालते हैं कि क्लोम शब्द से "Pharynx" नामक स्थल का ग्रहण करना चाहिये । ये "Pharynx" जिह्वामूल एवं तालु के समीप है । यहीं जिह्वामूल आदि में स्थित (Salivery glands) लालाग्रन्थियों से लाला निकलती है जो भोजन के (Starch) निशास्ता या श्वेतसार के पचाने के अतिरिक्त स्रोत को गीला रखती हैं, जिससे प्यास अधिक नहीं लगती । जब ये स्थल शुष्क होता है तो आदमी को प्यास लगती है और वह पानी पीता है । यदि शरीर में जलीयांश कम हो तो यह जगह सूख जाती है और मनुष्य को पानी पीने की इच्छा होती है, जिसके बाद यह जल अन्दर जाकर जलीयांश की कमी को पूरा करता है ।

Pharynx में ही चोट लगने से सद्यःमृत्यु होना सम्भव है । क्योंकि यही अन्न और श्वासोच्छ्वास का मार्ग है । क्लोम से सम्बद्ध

नाडी जिसे आजकल इंग्लिश में ट्रेकिया (Trachea) कहा जाता है, उसी में ही मण्डल संज्ञक सन्धि है और अठारह अस्थियों से यही नाडी बनी हुई है।

हृदय पर चोट से या वातरोग (Aneurysm of the aortic arch) से ही कण्ठनाडी, स्वरयन्त्र (Larynx) तथा क्लोम (Pharynx) का अपकर्षण (नीचे की ओर खिचावट–downward tugging movement) होता है।

आज कल डाक्टरों को "Pharynx" का एक ही मुख्य वर्णनीय रोग अर्थात् विद्रधि (Abscess) ही ज्ञात हुआ है। आयुर्वेद भी यही बताता है कि क्लोम में विद्रधि हुआ करती है।

तथा च दो मोटी नालियां भी "Pharynx" के साथ ही सम्बद्ध हैं जिन्हें "œsophagus" और "Trachea" अर्थात् गलनाडी और कण्ठनाडी कहा जाता है।

क्लोम पद से "Pharynx" का ग्रहण करने के लिये एक प्रमाण यह भी है कि गर्भावस्था की प्रारम्भिक दशा में मुख की जगह एक गह्वर (Cavity) प्रगट होता है, जिसे आज कल Coelom (कोइलोम) और Stomodeum (स्टोमोडियम) कहते हैं। पीछे से गर्भ के परिपाक काल में गह्वर के बीच में एक झिल्ली आजाती है, जो इसको दो भागों में विभक्त कर देती है, जिन्हें कण्ठनाडी और गलनाडी नाम से कहा जाता है।

क्लोम और Coelom (कोइलॉम) आपस में बहुत ही मिलते जुलते हैं। भारतीय चिकित्साशास्त्र ने ग्रीस के चिकित्साशास्त्र पर बहुत प्रभाव डाला था और यही कारण है कि यही क्लोम शब्द थोड़े से उच्चारण भेद (जो स्वाभाविक हैं) से ही उनके चिकित्साशास्त्र में चला गया है।

इन स्रोतोमूलों के विद्ध होने से प्यास तथा सद्योमृत्यु होती है ॥१४॥

रसवहे द्वे तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च ॥ १५ ॥

रसवह स्रोत दो हैं (Right lymphatic duct & Thoracic duct)

रसस्थान के ऊपर और नीचे के भेद से। अर्थात् अन्न परिपाक होने पर एक स्थान से रस रसायनियों (Lymphatics and lacteals) द्वारा रसस्थान (Receptaculum chyli) पर जाता है और वहां से छोटी नाली (Thoracic duct) द्वारा हृदय के पास ही शिरा में जा मिलता है। रसवह स्रोतों का मूल हृदय और रसवाहिनी धमनियां हैं। इस में वेध होने से शोष तथा प्राणवह स्रोतोमूल के विद्ध होने पर जो लक्षण बताये हैं, वे लक्षण भी दिखाई देते हैं, अथवा मृत्यु होजाती है ॥१५॥

रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ[1] रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः,तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितातिगमनं[2] रक्तनेत्रता च ॥१६॥

रक्तवह स्रोत भी दो हैं। इनका मूल यकृत (जिगर) तथा प्लीहा (तिल्ली) और रक्तवाहिनी धमनियां हैं। यहां पर वेध होने से अङ्गों का श्याम पड़ जाना, ज्वर, दाह, पाण्डुता (Anœmia) रक्त का अत्यन्त निकलना तथा रक्तनेत्रता (आंखों का लाल होना) होती है ॥१६॥

मांसवहे द्वे तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च ॥ १७ ॥

मांसवह स्रोत भी दो हैं। इनका मूल स्नायु, त्वचा एवं रक्तवहा धमनियां हैं, वहां पर वेध होने से शोथ, मांसशोष, शिराग्रन्थि अथवा मृत्यु होजाती है ॥ १७ ॥

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी[3] वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च ॥ १८ ॥

मेदोवह स्रोत भी दो हैं–इनका मूल कटि और दोनों वृक्क (गुर्दे) हैं। वहां पर वेध होने से पसीना आना, अङ्गों का स्निग्ध होजाना, तालु का सूखना , स्थूलता (मुटापा), शोफता और प्यास आदि लक्षण

---

1. The purpose of the liver is to prepare glycogen, to excrete waste products (urea and uric acid), to make bile, to act as a blood resorvoir, and, as with the muscles to act as a means of heat production. (Furneaux)

२ 'शोणितागमनं' इति पा० ।

३ अष्टांगसंग्रह में कटि की जगह "मांसं" ऐसा पढ़ा है ।

दीखते हैं ॥ १८ ॥

मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं वस्तिर्मेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धवस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च ॥ १६ ॥

मूत्रवह स्रोत भी दो हैं—जिन्हें आजकल Urators कहते हैं। इनका मूल वस्ति (मूत्राशय-Bladder) तथा मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) हैं। चरकसंहिता में "मूत्रवाहिनां वस्तिर्वंक्षणौ च" ऐसा पढ़ा है, जिससे यह स्पष्ट है कि ये स्रोत Urators ही हैं, क्योंकि ये दोनों वृक्क से निकलकर वंक्षण की दिशा से आती हुई वस्ति में मिलती हैं, इन स्रोतोमूल में वेध होने से वस्ति का फूलजाना, मूत्र का रुकजाना तथा स्तब्धमेढ्रता (मूत्रेन्द्रिय में वेदनायुक्त हर्ष) होती है ॥ १६ ॥

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च, तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च ॥ २० ॥

पुरीषवह स्रोत भी दो हैं—क्षुद्रान्त्र तथा उण्डुक (Cæcum) इनका मूल पक्वाशय (Large intestine) तथा गुदा (Rectum) है। इन में वेध होने से आनाह, दुर्गन्धता तथा ग्रथितान्त्रता (आंत में गांठ पड़ना अथवा Intussuception) आदि लक्षण होते हैं ॥ २० ॥

शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च[1] ॥ २१ ॥

शुक्रवह स्रोत दो हैं, इनका मूल दोनों स्तन तथा दोनों वृषण (Teste) हैं। ये दोनों वृषणों से निकलकर शुक्राशय में वस्ति के नीचे आकर मिलते हैं। यहां पर वेध होने से क्लीबता (नपुंसकता), देर से वीर्य का क्षीण होना तथा वीर्य का रक्त युक्त (Hæmospermia) होजाना, इत्यादि लक्षण होते हैं ॥ २१ ॥

आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च ॥ २२ ॥

आर्तववह स्रोत दो हैं—जिन्हें (Fallopian tubes) कहते हैं। इनका मूल गर्भाशय तथा आर्तववाहिनी धमानियां हैं। वहां वेध होने से वन्ध्यात्व

१ 'वाऽप्रसेकश्च' इति पा०।

(Sterility) मथुन को न सह सकना, तथा आर्तवनाश (Amenorrhœa) होजाता है ॥ २२ ॥

सेवनच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः, बास्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥२३॥

सेवनी पर चोट लगने से वेदना उत्पन्न होती है । वास्ति तथा गुदा के वेध के लक्षण पहिले कहे जा चुके हैं ॥ २३ ॥

स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्,
उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत् ॥ २४ ॥

जिस पुरुष के स्रोत में वेध हुआ हो उसे पहिले उसकी सिद्धि में कठिनाई जताकर चिकित्सा करनी चाहिये। जब शल्य (Foreign matter) निकाल लिया जाय तब क्षत चिकित्सा के समान चिकित्सा करें ॥२४॥

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत् ॥
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ २५ ॥

स्रोत का लक्षण–शरीर में मूलच्छिद्र से चारों ओर फैले हुए शिरा और धमनी को छोडकर जो रस आदि का वहन करने वाले अवकाश-स्थान या छिद्र हैं, उनको स्रोत जानना चाहिये ॥ २५ ॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने नवमोऽध्यायः ।

दशमोऽध्यायः ।

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब गर्भिणीव्याकरण नामक शारीर की व्याख्या करते हैं ॥ १ ॥

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च

१ मूलमाश्रयः उपकारापकारद्वारामित्यर्थः इति इन्दुः ।

कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्य[1]श्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च[2] भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत, न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेत[3]मसंबाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ २ ॥

गर्भिणी के लिये सामान्य नियम—गर्भिणी पहिले दिन से लेकर प्रतिदिन प्रसन्न, पवित्र, अलङ्कारों से युक्त, श्वेत वस्त्र का धारण करने वाली, शान्तियुक्त, मंगलसम्पन्न, देवता, ब्राह्मण एवं गुरू की पूजा करने वाली होवे। मैले, रोगी तथा हीन शरीरों का स्पर्श न करे। दुर्गन्ध, बुरे दृश्य तथा ग्लानि उत्पन्न करने वाली कथा कहानियां का परित्याग करे। सूखे, बासी, सड़े हुए तथा क्लिन्न अन्न को न खाये। बाहिर निकलना तथा शून्य गृह, चैत्य, श्मशान एवं वृक्षों का आश्रय (वृक्षों के नीचे बैठना, सोना) छोड़दे। क्रोध एवं भय को उत्पन्न करने वाले कथा आदि भावों को तथा ऊंचा बोलना एवं जो २ भी गर्भ के लिये हानिकारक हों उन २ का परित्याग करे।

तैल की मालिश और उबटने आदि का निरन्तर सेवन न करे। शरीर को थकाये नहीं तथा गर्भावक्रान्ति अध्याय में जो अपथ्य बता आये हैं, उनका परिहार करे।

चारपाई तथा चौकी कुर्सी आदि पर सोने और बैठने के लिये नीचे नरम बिछौना होना चाहिये। ये बहुत ऊंचे नहीं होने चाहियें। और ऊपर से तम्बू (चंदोया) आदि की तरह ढके होने चाहियें। ये ऊंचे नीचे न होने चाहियें और खटमल आदि से रहित होने चाहियें।

हृद्य (हृदय के लिये हितकारी अथवा रुचिकर), द्रव (Liquid), मधुरप्राय घृत आदि स्नेहयुक्त तथा मरिच पिप्पली जीरा आदि दीप-

---

१ चैत्यो देवताधिष्ठितो वृक्षः अन्ये बौद्धालयमाहुः इति डल्हणः।

२ 'क्रोधभयशस्करांश्च' इति पा०। ३ अपाश्रयश्चन्द्रातपश्चेति पर्यायाविति हाराणः। अपाश्रयोपेतं प्रतिवाहकसहितमिति डल्हणः।

नीय (जाठराग्निदीपक) द्रव्यों से संस्कृत भोजन खिलाना चाहिये।

ये प्रसव होने तक गर्भिणी स्त्री के लिये साधारण नियम हैं ॥ २ ॥

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत, विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषा चेत्येके ॥ ३ ॥

विशेष नियम—विशेषतः गर्भिणी को पहिले, दूसरे तथा तीसरे महीने में मधुर, शीत (वीर्य आदि में ठण्डे) और द्रवप्राय आहार खाना चाहिये। कइयों का मत है कि तीसरे महीने में विशेष कर सांठी के भात को दूध के साथ खिलावे, चौथे महीने दही से, पांचवे महीने दूध से, छठे महीने घी से ॥ ३ ॥

चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं[1], षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्[2], एवमाप्यायते गर्भः ॥४॥

चौथे महीने दूध तथा मक्खन से युक्त भोजन खिलाना चाहिये अथवा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस के साथ हृद्य (रुचिकर) अन्न खिलावे। पांचवे महीने दूध एवं घृत से युक्त। छठे महीने गोखरू द्वारा साधित घी की एक मात्रा अथवा यवागू पिलावे। सातवें महीने में पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी) आदि द्वारा साधित घृत पिलावे। इस प्रकार गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत्[3] पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन[4] तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते ॥ ५ ॥

---

१ 'क्षीरं सर्पिःसंसृष्टं' इति पा०। २ पृथक्पर्ण्यादिर्विदारिगन्धादौ द्रष्टव्यः ॥

३ "पललशब्देनात्र ग्राम्यजाङ्गलमांसयोरेव परिग्रहः क्रियते। अत्र बलादीनां चतुर्णां शरावमितः क्वाथः पयः प्रभृतीनां त्रयाणामर्द्धशरावो मधुतैलघृतानां प्रत्येकशः कर्षो लवणमदनयोस्तु शाण एवालमास्थापनाय" इति हाराणः। ४ 'पयोमधुकषायसिद्धेन' इति पा०।

आठवें महीने में बदर (बेर), के क्वाथ में बला (खरैंटी), अतिबला (ककही), शतपुष्पा (सोये), पलल (तिलकल्क) दूध, दही का पानी, तैल, शहद, घी तथा सैंधानमक और मैनफल का प्रक्षेप देकर आस्थापन करावें। इससे पुरातन रुके हुए मल का शोधन होजायगा और वात का अनुलोमन होगा।

हाराणचन्द्र "पलल" का अर्थ "मांस" करता है। और बला, अतिबला, शतपुष्पा तथा मांस, का क्वाथ डालने को कहता है॥

तदनन्तर दूध तथा मधुरगण की औषधियों के क्वाथ से सिद्ध तैल द्वारा अनुवासन [स्निग्धवस्ति] करावे। इस प्रकार वायु के अनुलोम होने से प्रसव सुखपूर्वक होता है और किसी प्रकार का उपद्रव खड़ा नहीं होता। इसके पश्चात् प्रसवकालपर्यन्त स्नेहयुक्त यवागुओं तथा जांगल पशुपक्षियों के मांसरस द्वारा चिकित्सा करे।

इस विधान के अनुसार चिकित्सा करने से स्निग्ध एवं बलवती स्त्री को उपद्रवरहित एवं सुखपूर्वक प्रसव होजाता है॥ ५॥

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ॥ ६॥

नवम महीने में गर्भिणी को प्रशस्त तिथि आदि में सूतिकागार में लेजांय॥ ६॥

तत्रारिष्टं[1] ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितसर्वागारं[2] यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम्॥ ७॥

सूतिकागार कैसा होना चाहिये? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्रों का क्रमशः श्वेत, लाल, पीली, तथा काली भूमिपर यथाक्रम बेल, बरगद तिन्दुक, तथा भिलावे की लकड़ी से निर्मित गृह में एवं इन्हीं के काष्ठ से निर्मित पलंग से युक्त तथा जिसकी दीवारों को अच्छी प्रकार लीपगया अथवा कलई किया गया है, जिसमें प्रसवकालोपयोगी सब सामान

---

१ 'तत्रारिष्टमगारं' इति पा०। २ '–निर्मितं सर्वागारं' इति, '–निर्मितसर्वाङ्गारं' इति च पाठान्तरद्वयमुपलभ्यते।

यथास्थान रखा गया हो, जिसका द्वार पूर्व या दक्षिण की ओर हो, जो गृह कम से कम आठ हाथ लम्बा, चार हाथ चौड़ा हो, ऐसा अरिष्ट अर्थात् सूतिका गृह बनायें। यह गृह रक्षाद्रव्य (भूतनाशक, Antiseptic) तथा मङ्गल द्रव्यों से युक्त होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि यदि ब्राह्मण के लिये सूतिकागृह बनाना हो तो फ़र्श तथा दीवारें सब श्वेतवर्ण की होनी चाहियें और उस गृह में जो दरवाज़े आलमारी पलंग आदि लकड़ी का सामान हो वह बेल की लकड़ी का होना चाहिये। इसी प्रकार क्रमशः क्षत्रिय आदि का भी समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने[1] ॥
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥ ८ ॥

प्रजायिनी का लक्षण—कुक्षि के शिथिल होने पर, हृदयबन्धन के मुक्त होने पर और जघन देश के शूल युक्त होने पर जानना चाहिये कि स्त्री को प्रसव होने वाला है। अभिप्राय यह है कि गर्भाशय जो बढ़ते २ हृदय तक पहुंच गया था इस समय आगमन के कारण नीचे को झुक जाता है, जिससे फुप्फुस पर दबाव न रहने के कारण जननी या गर्भिणी को श्वासोच्छ्वास सुगमता से होता है। यह लघुता प्रसव से लगभग दो सप्ताह पूर्व से होजाती है ॥ ८ ॥

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥ ९ ॥

उपस्थितप्रसवा (जब प्रसवकाल प्रारम्भ होगया हो) स्त्री के कमर और पीठ से वेदना प्रारम्भ होकर चारों ओर फैलती है। बार २ मलत्याग की इच्छा होती है, मूत्र भी बार २ आने लगता है और योनिमुख से श्लेष्मा भी बहती है ॥

गर्भिणी के अन्तिम एक या दो सप्ताहों में उत्पादक अंगों के स्राव

---

१ रोहितमत्स्यस्य मुखाकारत्वेनोपदिष्टा हि योनिरवश्यं हृदयमप्यनुकरोति भूयिष्ठं तदाकारत्वात् विशेषतश्चापन्ने गर्भे समं गर्भाभिवृद्धयाऽभिवृद्धा अपि चोपस्थिते प्रजननकाले बहिर्द्वारं प्रत्यंगुल्यग्राभिलक्षितत्वेनासन्नमुखी निसर्गत एव विमुक्तबन्धना भवत्यास्येन तादिदमुच्यते मुक्त इति। तथा च सिंहो माणवक इतिवद्गौणोऽयं हृदयशब्दो योनिं लक्षयतीति हृदयबन्धने योनिमुखबन्धे मुक्ते अंगुल्यग्रेण स्फुटितत्वेनानुभूत इत्यर्थः। इति हाराणः

बढ़ जाते हैं, जिससे भगदेश गीला तथा पिलपिला होजाता है तथा भगौष्ठों के बीच का अन्तर अधिक खुल जाता है।

प्रसूति-प्रक्रम (Labour) को हम तीन अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं। १—प्रसारणावस्था २—निःसारणावस्था ३—विशल्यावस्था।

प्रसारणावस्था—प्रसूति-प्रक्रम का प्रारम्भ गर्भाशय की आकुञ्चनजनित सामयिक वेदनाओं से ज्ञात होता है। ये वेदनायें प्रारम्भ २ में थोड़ी २ होती हैं और जैसा २ काल गुज़रता जाता है, अधिक से अधिक तीव्र होती जाती हैं। ये वेदनायें कमर एवं पीठ से प्रारम्भ होकर उदर के सामने तथा जङ्घाओं तक जाती हैं। आकुञ्चनों के कारण गर्भाशय-ग्रीवा का मुख फैलने लगता है और गर्भ का आवरण करने वाली जरायु तथा श्लैष्मिक कला के टुकड़ों के जुदा होने के कारण योनि से श्लेष्ममिश्रित रक्त आने लगता है। यह प्रथमावस्था १२ से १८ घण्टे तक रह सकती है। इस अवस्था के अन्त में अचानक गर्भोदक-स्राव होता है, जिससे यह ज्ञात होजाता है कि जरायु फट गया है और गर्भोदक का वह भाग जो शिर के सामने जरायु में बन्द था निकल गया है। कभी २ जरायु स्वयं नहीं फटता। ऐसी अवस्था में धात्री का कर्तव्य होता है कि वह उसे सावधानी से विदीर्ण करदे।

द्वितीयावस्था—जरायु के विदीर्ण होने पर वेदना कुछ काल के लिये कम हो जाती है परन्तु फिर तीव्रता तथा पौनःपुन्य में बहुत अधिक बढ़कर गर्भाशयस्थित भ्रूण को निकालने में सहायक हो जाती हैं। इस समय उदर की मांसपेशियां भी इस कार्य में सहायता करती हैं यद्यपि प्रथम तो इन की गति माता के वश में होती है परन्तु पीछे से ये उनके नियन्त्रण से बाहिर हो जाती है और गर्भाशय के आकुञ्चनों के सदृश इन मांसपेशियों के आकुञ्चन भी होने लगते हैं। ज्यों २ वेदना बढ़ती है, जननी किसी कठिन पदार्थ को जकड़ कर पकड़ने का प्रयत्न करती है, तथा पैरों को पांयत की ओर दबाती है। इसी समय वह एक दीर्घ निःश्वास लेती है और उसे यथाशक्ति अन्दर रोकने का प्रयत्न करती है। परिणाम यह होता है कि वक्षोदरमध्यभित्ति (Diaphragm)

स्थिर हो जाती है और उदर की मांसपेशियां निःसारण के कार्य में बेरोक टोक लग जाती हैं। वेदना के समय जननी का मुख लाल हो जाता है और उसे खूब पसीना आता है। जब कुछ काल के लिये ये वेदना शान्त होती हैं तब वह कई दीर्घ निःश्वास लेती है। इन वेदनाओं के कारण गर्भाशय-स्थित शिशु का सिर बस्तिगुहा (Cavity of Pelvis) में आजाता है। ज्यों२ यह शिर नीचे उतरता है त्यों २ गुदा पर अधिक २ दबाव होता जाता है और यदि गुदा पहिले से पूर्णतया साफ़ न हो तो मलत्याग की बार २ इच्छा होती है तथा प्रत्येक आकुञ्चन के साथ मल पिचक २ कर बाहिर निकल जाता है। शिर के और नीचे उतर आने से भगदेश (Perinium) पर दबाव पड़ता है और वह स्थान फूलकर बाहिर की ओर निकल आता है। इसके साथ ही साथ भगद्वार भी फैलता जाता है यहां तक कि शिरके क्रमशः अधिकाधिक नीचे आने पर जहां भगदेश पर अधिकाधिक दबाब पड़ने से वह बाहिर निकलता आता है और खिंचावट के कारण कागज़ के सदृश पतला हो जाता है, वहां वह बढ़ता २ अण्डाकृति होकर अन्त में पूरा गोल हो जाता है। इसके बाद गुदद्वार भी फैल जाता है। इस प्रकार क्रमशः वेदनाओं के साथ २ शिर नीचे २ आता जाता है। यद्यपि वेदनाओं के दौरों के बीच के काल में शिर कुछ लौट कर ऊंचा चढ़ता है पर आने वाली वेदना के समय वह बहुत अधिक नीचे आजाता है। यह उतराव चढ़ाव तब तक जारी रहता है, जब तक शिर का सबसे चौड़ा हिस्सा भग में धकेल नहीं दिया जाता। इसके पश्चात् चढ़ाव नहीं होता। तथा सिर भ्रूण की ग्रीवा की गति से शीघ्र ही बाहिर आजाता है। जब शिर भगदेश में आता है उस समय जननी को घोर वेदना होती है। शिर निकलने पर प्रसव का प्रक्रम कुछ देर के लिये शान्त होजाता है। इस समय दबाव के कारण बच्चे का मुख लाल होजाता है। इतने में पुनः वेदनायें प्रारम्भ होती हैं और शिशु का सिर इस प्रकार घूम जाता है कि यदि जननी बांयी करवट लेटी पड़ी हो तो उसका मुख ऊपर को दिखाई देगा, इसके बाद स्कन्ध बाहिर आंयगे

और पश्चात् शेष शरीर। अन्त में जो गर्भोदक बचा रह गया था वह एक दम बह निकलेगा। जिन्हें गर्भ पहिली वार हुआ हो, उनमें यह अवस्था दो या तीन घण्टे रहती है तथा धृतानेकगर्भा स्त्रियों में यह अवस्था बहुत थोड़े समय भी रह सकती है। द्वितीयावस्था के अन्त में गर्भाशय संकुचित होकर एक कठोर अर्बुद के रूप में नाभि से नीचे तक पहुंचा जायगा।

विशल्यावस्था—अब कुछ काल के लिये वेदनायें बन्द होजाती है। अन्त में फिर गर्भाशय आकुञ्चित होने लगता है तथा हाथ से छूने पर अधिक कठिन और ठोस मालूम होता है। बीच २ में गर्भाशय मृदु भी होजाता है। इसके पश्चात् वेदना के दौरों के मध्यकाल (जब वेदना शान्त होती है) में बार २ रक्त का थोड़ा २ स्राव होने लगता है, जो कि अपरा (Placenta) के गर्भाशय से जुदा होने का निदर्शक होता हैं। अन्त में एक तीव्र वेदना के साथ अपरा गिर जाती है। यह अवस्था कुछ क्षणों से लेकर एक घण्टा तक ले सकती है। कभी २ इससे अधिक समय भी लगता है। साधारणतः यह अवस्था २० मिनट लेती है। इस अवस्था में प्रसूता को कंपकंपी भी होने लगती है, जिसे इंग्लिश में Physiological chill ot labour कहते हैं ॥ ९ ॥

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां[1] पुन्नाम[2]-फलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां[3] यवागूमाकण्ठात् पाययेत्, ततः कृतोपधाने मृदुनि[4] विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः[5] परिचरेयुरिति ॥ १० ॥

जब जननी को प्रसव होने ही वाला हो, उस समय उसके चारों

१ कुमारपरिवृतामिति हर्षेण क्लेशापवारणार्थमुपदिश्यते इति गम्यते। अतः कुमारशब्देन स्निग्धानां कुमारीणामपि परिग्रहो न्याय्यः ॥

२ पुन्नागः पुरुषस्तुङ्गः पुंनामा पाटलः पुमान्। इति राजनिघण्टुः। पुन्नामफलहस्तत्वं पुनः सुखप्रसवं प्रत्येनां त्वरयतीत्याचक्षते। इतिहाराणः।

३ 'सघृतां' इति पाठान्तरम्। ४ 'मृदुविस्तीर्णे' इति पा० ५ 'कल्पितनख्यः' इति पा०

और वेदना एवं क्लेश के निवारण के लिये कुमार एवं कुमारियां होनी चाहियें। उसके हाथ में पुंनाग का फल हो। और उस समय उसे अभ्यङ्ग तथा गरम जल से परिषेचन करके मङ्गल पाठ एवं स्वस्तिवाचन के अनन्तर कण्ठपर्यन्त (भर पेट) बलकारक यवागू पिलावें। तदनन्तर शय्या, जिस पर तकिया या मसनद लगा हो, नरम गदेला या बिछौना बिछा हो, उस पर सहारा लगाकर तथा जानु को उठाकर उत्तानावस्था (सीधी, ऊपर को मुंह किये हुए) में बैठी हुई जननी की चार पकी हुई आयु वाली (बूढ़ी, अनुभवी) स्त्रियां परिचर्या करें। स्त्रियां ऐसी होनी चाहियें, जिन पर जननी को पूरा भरोसा हो, उन पर किसी प्रकार का सन्देह न हो, प्रजननकार्य में कुशल हों, तथा जिनके नख कटे हुए हों।

यह पहिले बताया गया है कि प्रसूतिप्रक्रम की प्रथमावस्था में अत्यन्त तीव्र वेदनायें होती हैं। ये वेदनायें बढ़ कर इतनी असह्य होजाती हैं कि कभी २ जननी चिल्ला भी उठती है। इस समय वेदना को कम करने के लिये स्त्री स्वभावतः ही किसी कुर्सी या सोफ़ा (Sofa) पर बैठ या लेट जाती है, जिससे त्रिकास्थि पर दवाव पड़ने से व्यथा कुछ कम होजाती है।

पुन्नाग नामक फल का गुण भूतों का नाश करना (Antiseptic) है। कहा भी है "पुन्नागो मधुरः शीतः सुगान्धिः पित्तनाशकृत्। भूतविद्रावणश्चैव देवतानां प्रसादनः ॥ १० ॥

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैनामेका— सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः (पूर्वं), ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्;

१ विशिखान्तरमपत्यमार्गम्। २ 'अनुमुखं' इति पा०।

३ अथवा ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रवन्धे इत्यनन्तरं "प्रवाहस्व" इति अध्याहार्यम्। तथा च ततः इति गर्भस्य वहिरागमनानन्तरं गर्भनाड्याःप्रकृष्टो बन्धः यत्र तस्मिन् गर्भनाडीप्रवन्धे अपरायां इति यावत् विमुक्ते इति गर्भाशयभित्ततः पृथग्भूते पुनः प्रवाहस्व निकुन्थनं कुरु। ४ 'पूर्वं' इति क्वचित्पुस्तके नोपलभ्यते।

५ स्वस्थानाद्गर्भस्य निःसरणाय गमनं गर्भनिर्गमस्तस्मिन् गर्भनिर्गमे।

अकालप्रवाहणाद्बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुं मूर्द्धाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ॥११॥

जब स्त्री उपर्युक्त प्रकार से बैठ जाय, तब एक परिचारिका अनुलोम विधि से योनिमुख में अन्दर से बाहिर की ओर तैल की मालिश करे और दूसरी उस जननी को सम्बोधन करके कहे कि हे सुभगे! प्रवाहण (गर्भ को बाहिर निकालने की चेष्टा-कुन्थन) कर, पर जिस समय आवी अर्थात् वेदना न हो उस समय प्रवाहण न करना। जब गर्भनाड़ी—गर्भाशय का प्रबन्ध (बन्द हुआ २ मुख) खुल जाय; कमर, वङ्क्षण तथा वस्तिशिर में वेदनायें होने लगें, उस समय धीरे २ प्रवाहण करे। जब गर्भ योनि में आजाय तब गाढ़ (अधिक ज़ोर से) प्रवाहण करे और जब योनिमुख पर पहुंच जाय तब गर्भस्थ शिशु के बाहिर आने तथा अपरापात तक गाढ़तर (प्रथमापेक्षा अधिक बल से) प्रवाहण करे।

अकाल अर्थात् वेदना (आवी) के दौरों के बीच में (जब वेदना नहीं होती) अथवा यदि अभी आवी उत्पन्न ही न हुई हों, उस समय प्रवाहण करने से बहिरे, गूंगे, व्यस्तहनु (टेढ़ी ठोडी वाले जैसे अर्दित में होता है), शिर हिलाने वाले अथवा विकृत मस्तिष्क वाले, कास, श्वास अथवा शोष (राजयक्ष्मा) से युक्त, कुबड़े अथवा विकट अर्थात् भयंकर एवं विकृत आकृति वाले पुत्र को जनती है ॥ ११ ॥

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् ॥१२॥

यदि गर्भस्थ शिशु प्रसव के समय प्रतिलोम गति से आया हो तो अनुलोमन करे। अर्थात् स्वाभाविक प्रसव का जो तरीक़ा है (शिर का पहिले आना इत्यादि) उससे यदि उलटा (अर्थात् बाहु, स्कन्ध, नितम्ब आदि का पहिले आना) आवे तो मूढगर्भचिकित्सा में कही गयी विधि से उसे बाहिर निकलने के योग्य करले॥१२॥

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बध्नीया-

---

१ 'व्यस्तहनुमूर्ध्वाभिघातिनं' इति पाठान्तरे ऊर्ध्वाभिघातिनमूर्ध्वजत्रुगतरोगिणम्।

द्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा॥१३॥

यदि गर्भसङ्ग (गर्भ का अन्दर रुक जाना) हो तो, योनि को काले सांप की कैंचुली से अथवा मैनफल से धूपन करे। तथा हिरण्यपुष्पी की जड़ (लाङ्गली) को हाथ पांव में बांधे अथवा सुवर्चला (सूरजमुखी) या विशल्या (लाङ्गली, कलिहारी) को धारण करे॥१३॥

अथ जातस्योल्बमपनीय, मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य, घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्; ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥१४॥

जब शिशु बाहिर आजाय तब जरायु को हटा कर सैन्धानमक और घी से मुख का शोधन करके घी से भीगा हुआ फोहा शिर (ब्रह्मरन्ध्र तथा अधिपतिरन्ध्र) पर रखें। तदनन्तर नाभिनाडी को आठ अंगुल माप कर (अंगुलियों से दबाते हुए दूध दोहने की तरह) खींचें। और कसकर धागे सें बांध दें पश्चात् तेज़ कैंची से काट दें। और जिस धागे से नाभिनाडी को बांधा है उसके एक प्रान्त को गर्दन में सम्यक् प्रकार से बांध दें॥

सूत्र को गले में बांधने का अभिप्राय यह है कि वहां पर रस आदि के न रहने से नाभिनाड़ी शीघ्र ही क्रमशः सूख जायगी तथाच रक्त आदि का स्राव भी न होगा। रक्तस्राव इससमय हानिकारक हुआ करता है।

ज्योंही प्रसूतिप्रक्रम की द्वितीयावस्था के अन्त में शिशु बाहिर

---

१. लाङ्गली हालनी सीरी विशल्या कलिकारिका। अग्निजिह्वा स्वर्णपुष्पा दीप्ता नक्तेन्दुपुष्पिका इत्यादि। अस्याः गुणाः—लाङ्गली कटुका चोष्णा कफवातापहा सरा। अपरापातनी चैव सद्यः प्रसवकारिका। इत्यादि॥ हिरण्यपुष्पी स्वर्णकेतकी आरग्वध इत्यन्ये इति। हाराणः। २ विशल्या–पाटलेति डल्हणः। गुडूचीति हाराणः। लाङ्गल्याः प्रयोगः–सुधौतं लाङ्गलीमूलं वारिणा परिपेषितम्। नाभौ योनौ प्रलिप्तं वा सद्यः प्रसवकृन्मतम्॥ लाङ्गली वारिणा पिष्टा करपादप्रलेपिता। अपरां पातयत्याशु न सन्देहोऽत्र कश्चन॥ इति रसतरङ्गिण्याम्। ३–जातस्योल्बं मुखं च' इति पा०। ४–ब्रह्मदेवस्तु घृताक्तमिति पदं परित्यज्य पिचुं दद्यादित्यत्र 'बलातैलाक्तमिति शेषः' इति व्याख्याति। ५–प्रत्यागतप्राणस्य च प्रकृतिभूतस्य नाभिनालं नालाभिवन्धनाच्चतुरंगुलस्योर्ध्वं क्षौमसूत्रेण बद्ध्वा तीक्ष्णेन शस्त्रेण वर्धयेत्। वृद्धवाग्भट। ६–आयम्य आकृष्येत्यर्थः।

आता है, उसी समय पूर्ववत् मुख आदि का शोधन करके उसके श्वासोच्छ्वास में सहायता पहुंचाई जाती है। इसमें सहायता देने के लिये चरकसंहिता में निम्नलिखित उपाय बताये हैं—

१ बच्चे के कान के पास दो पत्थरों को टकरा कर आवाज़ करना तथा २–ठण्डे या कोसे जल से परिषेचन और ३–पंखा करना।

ज्योंही इस प्रकार श्वासोच्छ्वास अच्छी प्रकार चलने लगे त्यों ही शिशु को पीठ के बल उत्तानावस्था में बिछौने पर लेटा दो। जब तक नाभिनाडी में गति (Pulsation) बन्द होने के चिन्ह दिखाई न दें तब तक कुछ मिनटों के लिये प्रतीक्षा करें। पश्चात् शिशु की नाभि से दो इंच की दूरी पर नाभिनाडी को पकड़ कर भींच कर चिपचिपे रस (जिसे अंग्रेज़ी में Warton's jelly कहते हैं) को निचोड़ (Squeez) दो, जिससे वह पतली होजायगी। अब सूत से ब कस के एक गांठ देदो। यदि कदाचित् गर्भाशय में दूसरा शिशु हो तो जननी के भगदेश से ३″ की दूरी पर अवश्य ही एक दूसरी गांठ लगानी चाहिये। क्योंकि यदि दोनों शिशुओं का रक्तप्रवाह सम्बन्धित होगा तो दूसरे शिशु के भी प्राण बच जांयगे। साधारणतया यह दूसरी गांठ भी सर्वदा ही लगा देनी चाहिये; जिससे कभी गलती न हो। अब नाभि के पास की गांठ से आध इञ्च की दूरी पर तेज़ कैंची से काटो। अब शिशु को परिचारिका के सिपुर्द करदो, जो ऋत्वनुसार कपड़े ओढ़ाकर लेटा देगी। परन्तु परिचारिका को देने से पूर्व उसकी नाभिनाडी को एक बार फिर ध्यान से देख लेना चाहिये कि कहीं रुधिर तो नहीं निकलता? यदि निकलता हो तो पहिली गांठ के पास ही एक दूसरी गांठ और लगादो॥ १४॥

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिर्[1]नन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्; [2]ततो

---

१. मधुसर्पिरनन्तचूर्णमिति पाठे अनन्तचूर्णं सुवर्णचूर्णं मधुसर्पिर्मिश्रं लेहयेदित्यर्थः।

२ वृद्धवाग्भटेन त्वन्यथा प्राशनमभिहितं; यथा 'ऐन्द्रीब्राह्मीशङ्खपुष्पीवचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाभिमन्त्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण वा मेधायुर्बलजननं प्राशयेद्वा ब्राह्मीवचानन्ताशतावर्यन्यतमचूर्णम्" -इति॥

बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥१५॥

तदनन्तर बच्चे को शीतल जल से (परिषेचन आदि द्वारा) आश्वासन देकर जातकर्म करने पर शहद, घी, अनन्ता (दूर्वा) तथा ब्राह्मी के रस के साथ अनामिका अंगुली से सुवर्णभस्म ($\frac{1}{64}$ रत्ती) चटावें । तदनन्तर बलातैल द्वारा मालिश करके पीपल, बरगद आदि पञ्चक्षीरि वृक्षों की त्वचा के क्वाथ से अथवा सर्वगन्धयुक्त जल से अथवा चांदी और सोने को गरम कर२ के बुझाने से गरम किये हुए जल से अथवा कैथ के पत्तों के कोष्ण क्वाथ से समय, दोष तथा अपने विभव (धन सामर्थ्य) के अनुसार स्नान करावें ॥

स्नानार्थ क्वाथ या जल का तापपरिमाण १००० फार्न० होना चाहिये । स्नान से पूर्व तैलाभ्यङ्ग से जहां शिशु के शरीर में बल आयगा वहां शरीर पर चिकना श्वेत सा पदार्थ (Vermix Caseosa) नर्म पड़ जायगा ॥१५॥

---

१ योनिसन्तर्पणेऽभ्यङ्गे पाने बस्तिषु भोजने । बलातैलमिदं चास्यै दद्यादनिलवारणम् ॥ बलामूलकषायस्य दशमूलीकृतस्य च । यवकोलकुलत्थानां क्वाथस्य पयसस्तथा ॥ अष्टावष्टौ शुभा भागास्तैलादेकस्तदेकतः । पचेदावाप्य मधुरं गणं सैन्धवसंयुतम् ॥ तथाऽगुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च । मञ्जिष्ठां चन्दनं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम् ॥ मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम् । शतावरीमश्वगन्धां शतपुष्पां पुनर्नवाम् ॥ तत् साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृन्मयेऽपि वा । प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥ बलातैलमिदं ख्यातं सर्ववातविकारनुत् । यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै प्रदापयेत् । या च गर्भार्थिनी नारी क्षीणशुक्रश्च यः पुमान् । वातक्षीणे मर्महते मथितेऽभिहते तथा । भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैवोपयुज्यते । एतदाक्षेपकादीन् वै वातव्याधीनपोहति । हिक्कां कासमधीमन्थं गुल्मं श्वासं च दुस्तरम् । षण्मासानुपयुज्यैतदन्त्रवृद्धिमपोहति । प्रत्यग्रधातुः पुरुषो भवेच्च स्थिरयौवनः । राज्ञामेतद्धि कर्तव्यं राजमात्राश्च ये नराः । सुखिनः सुकुमाराश्च धनिनश्चापि ये नराः ।

२ सर्वगन्धं नाम—चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं प्रकीर्तितम् ॥ अथवात्र एलादिगणो ग्राह्यः तद्यथा—एलातगर कुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुकसर्जरसंतुरुष्कः कुन्दुरुकागरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति ।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम् ॥
चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते[1] ॥ १६ ॥

हृदय देश में स्थित धमनियों के खुलने के कारण तीन या चार दिन के बाद स्त्रियों में दूध निकलता है। अर्थात् जब दुग्धवहा रसायनियों (Milk ducts) के मुख खुल जाते हैं तब प्रसव के तीन या चार दिन बाद स्तनों से दूध निकलता है ॥

आजकल के पाश्चात्य चिकित्सक भी इसी प्रकार मानते हैं। हैनरी जैलेट (Henery jellet) ने कहा है—"The fluid which is found in the breast during the first 48 hours after delivery is called collustrum (जिसे संस्कृत में पीयूष और हिंदी में खीस कहते हैं). The milk proper becomes established about the evening of the second or the morning of the third day, and rapidly increases in amount."

अर्थात् प्रसव के बाद ४८ घण्टे तक जो स्तनों में द्रव पाया जाता है वह पीयूष या खीस होता है। असली दूध तो दूसरे दिन की शाम को अथवा तीसरे दिन के प्रातःकाल प्रकट होता है और शीघ्रता से परिमाण में बढ़ता जाता है ॥ १६ ॥

तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तामिश्रं[2] मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसंमितं द्विकालं पाययेत्[3] ॥ १७ ॥

इसी कारण प्रथम दिन अनन्ता से मिश्रित शहद और घी—जिसे मन्त्र द्वारा पवित्र कर लिया हो—तीन बार पिलावे। दूसरे दिन लक्ष्मणा

---

१ सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात् प्रसूतितः। तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते। इति वृद्धवाग्भटोक्तः पाठः।

२ अनन्तमिश्रमिति पाठे सुवर्णमिश्रम्। हाराणचन्द्रस्तु अनन्ता सारिवा इति व्याख्यानयति। अष्टाङ्गसंग्रहस्य व्याख्यात्रा तु अनन्ता "दूर्वा" इति व्याख्यातम् ॥

३ पाययेत् इति स्तन्याभावजनितदोषोपशमार्थं न पुनराहारार्थमिति निश्चीयतेऽग्रे रणीयस्त्वेन मध्वादीनां गन्धमात्रेणोपयोगात्, तथा च तत्र २ आहारार्थं "स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं हितम्" इत्यागमानुसरणं नानुपपन्नम्। वक्ष्यति च 'क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजम्'। इति हाराणः।

से साधित घृत और तीसरे दिन भी शिशु को लक्ष्मणा-साधित घृत दें। चौथे दिन जिसे पहिले दूध न पिलाया हो, शहद और घी मिलाकर बच्चे की हथेली में जितना आवे उतना २ दिन में दो बार पिलावे। अर्थात् यद्यपि चौथे दिन दूध पैदा हो जाता है पर वह अभी बच्चे के योग्य नहीं होता, अतः उस दिन का दूध निकाल दें और अगले दिन अर्थात् पांचवें दिन से दूध पिलाने लगें। कई इसका अभिप्राय यह निकालते हैं कि प्रथम घृत और मधु चटाकर ऊपर से माता दूध पिलावे। अथवा चतुर्थ दिन दो समय अर्थात् प्रातः और मध्यान्ह समय तो मधु और घृत चटावें और इसी दिन तीसरे समय अर्थात् सांझ से दूध पिलाना प्रारम्भ करदें। यहां पर यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि घृत और मधु बराबर २ परिमाण में न मिलाने चाहियें–क्योंकि उस समय विष प्रभाव वाले होते हैं ॥१७॥

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्क्वाथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन[1] पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात् विशुद्धे ततो विदारिगन्धादि[2]सिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके ॥१८॥

इसके बाद प्रसूता को भी मूढगर्भचिकित्सितोक्त बलातैल की मालिश करवाके वातहर औषधों के क्वाथ से चिकित्सा करे। अर्थात् पानार्थ तथा स्नानार्थ प्रयोग कराना चाहिये। शरीर में लगे हुए क्लेद तथा मल को धुलवा डालना चाहिये। यदि अन्दर कोई दोष अर्थात् आवरणकला आदि का कोई टुकड़ा या दुष्ट रुधिर बच जाय तो उसी दिन पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चीता और सोंठ, इनके मिलित चूर्ण को गरम किये हुए गुड के शरबत के साथ पिला दे। इस प्रकार जब तक दुष्ट रुधिर

१—'स्नेहविमिश्रं गुडोदकेनोष्णेन' इति तथा 'गुडोदकेनोष्णोदकेन वा' इति पा०।

२ विदारीगन्धादिः-तद्यथा–विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति।

निकलता हो दो या तीन दिन तक पिलावे । तदनन्तर जब गर्भाशय अथवा निकलने वाला रुधिर विशुद्ध होजाय तो विदारिगन्धा आदि गण की औषधों से सिद्ध घृत आदि स्नेह युक्त यवागू अथवा दूध युक्त यवागू को तीन दिन तक पिलावें । तदनन्तर जाठराग्नि और बल को देखकर जौ, कोल (बेर) तथा कुलथी से सिद्ध किये हुए जङ्गली पशु पक्षियों के मांस के रस के साथ शालि चावलों का भात खिलावे । इस प्रकार १॥ महीने तक नियम पालन के पश्चात् जब आहारविहारसम्बन्धी प्रसूतोपयुक्त नियमों से मुक्त होजाती है, तब उसका नाम प्रसूता नहीं रहता । कई आचार्यों का मत है कि प्रसवानन्तर होने वाले प्रथम ऋतुस्राव तक वह प्रसूता-जच्चा रहती है, पश्चात् नहीं ॥ १८ ॥

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादि[1]कषायानुपानां, स्नेहानित्या च स्यात्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा (बलवती)[2] अबलां[3] यवागूं पाययेत्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा । अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् ॥ १९ ॥

धन्वभूमि अर्थात् मरुदेश अथवा जाङ्गलदेश में उत्पन्न हुई २ जच्चा को घी या तेल में से किसी एक की एक खूराक पिप्पल्यादि पूर्वोक्त औषधियों के क्वाथ के अनुपान के साथ पिलावे । इस प्रकार बलवती प्रसूता को तीन दिन या पांच दिन तक स्नेहपान एवं स्नेहाभ्यङ्ग करना चाहिये । निर्बल प्रसूता को स्नेहपान की जगह किंचत् स्नेह से सिद्ध यवागू तीन या पांच दिन तक पिलानी चाहिये । इसके बाद अच्छी प्रकार घृत आदि स्नेह से युक्त ओदन आदि अन्न खिलावे ॥१९॥

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्, क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् ॥ २० ॥

सूतिका को प्रायशः बहुत से गरम जल से प्रतिदिन परिषेचन या स्नान करावे । और जच्चा को चाहिये कि वह क्रोध, परिश्रम तथा मैथुन आदि का त्याग करे ॥२०॥

---

१ पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्याचित्रकशृङ्गवेरमारिचहास्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥

२—'बलवती' इति न पठ्यते केषुचित्पुस्तकेषु । ३ 'बलवतीमबलां' इति ।

भवतश्चात्र ।

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते ॥
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ॥ २१ ॥

चूंकि वेदना, रक्तस्राव तथा शिशुजन्म के कारण प्रसूता; अत्यन्त दुर्बल तथा कृश होजाती है, अतः थोड़े से भी अपथ्य से जो रोग उत्पन्न होजाता है, वह कष्टसाध्य या असाध्य ही होता है ॥२१॥

तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा[1] ॥
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात्[2] ॥ २२ ॥

अतएव देश और काल को देखकर रोगशामक कर्म द्वारा प्रतिकार या चिकित्सा करे । इस प्रकार वह रोगों एवं मृत्यु से बच सकती है ॥२२॥

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केश-वेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः[3] पाणि-पादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या[4] महावृक्षक्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गली-मूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालिमूलकल्कं[5] वा पिप्पल्यादिं वा मद्येन, सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरबस्तिं दद्यात्, स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत् ॥ २३ ॥

यदि अपरा(Placenta) न गिरी हो तो पेटमें अनाह (पेट तना हुआ) तथा आध्मान हो जाता है । अतः अपरापातनार्थ अंगुली के अग्र भाग को बालों से लपेट कर जच्चा के कण्ठ में फेरें । अथवा कड़वी तुम्बी, कड़वी तोरी या मालकंगनी, सरसों तथा सांप की कैंचुली-जिनमें कड़वातैल (सरसों का तैल) मिलाया हो—से योनिमुख का धूपन करें । अथवा उसके हाथ और पैरों की तली में लाङ्गली (कलिहारी) का जड़ के कल्क का लेप करे । अथवा

१ गयी तु 'देशकालैकव्याधिसात्म्येन कर्मणा' इति पठित्वा देशादिभिः सह पृथक् सात्म्यशब्दं संबध्नाति; ओकसात्म्यमभ्याससात्म्यम् ।

२ 'परीक्ष्योपचरेदेवं नेयमत्ययमाप्नुयात्' इति पा० ।

३ 'चास्याः' इति पा० । ४ 'चास्याः' इति पा० ।

५ शालमूल कल्कमिति पाठान्तरम् ।

उसके शिर पर महावृक्ष (सेहुण्ड) के दूध से परिषेचन करें। अथवा मद्य या गोमूत्र के अनुपान से कुठ और कलिहारी की जड़ के कल्क को पिलावें। अथवा शालि की जड़ के कल्क को या पिप्पल्यादिगण के चूर्ण को मद्य के साथ दें। अथवा सुरामण्ड (सुरा का उपरितन भाग)–जिसमें सिद्धार्थक (श्वेत सरसों),कुठ, लाङ्गली तथा सेहुण्ड का दूध मिलाया हो–से आस्थापन करें। इन्हीं सिद्धार्थक आदि औषध से सिद्ध सिद्धार्थक तैल द्वारा उत्तरवस्ति दें। अथवा हाथ द्वारा निकाल लें। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि निकालने वाली के हाथ के नाखून कटे हुए हों। हाथ को अन्तःप्रवेश करने से पहिले साबुन द्वारा अच्छी प्रकार धो कर तैल आदि स्नेह चुपड़ लेना चाहिये। अथवा चरकोक्त विधि काम में लानी चाहिये–जोकि निम्न प्रकार है—

"तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद्बलवन्निष्पीड्य सव्येन पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धूतं निर्धुनुयात्"।

अर्थात् यदि अपरा बाहिर न आवे तो परिचारिकाओं में से एक दाहिने हाथ से नाभि के ऊपर से बलपूर्वक भींच कर और बायां हाथ पीठ पर लगा कर अच्छी प्रकार हिला देवे।

आजकल का तरीक़ा जिसे Crede's Method कहते हैं, निम्न प्रकार है:—

यदि अपरा शिशुजन्म के ४० मिनट बाद तक भी न निकले और गर्भाशय में रुकी रहजाय तो–उदरभित्ति में से गर्भाशय को इस प्रकार पकड़ो कि अंगुलियां गर्भाशय के पीछे तथा अंगूठा सामने रहे, जब गर्भाशय आकुञ्चन करे तो इसे सामने से पीछे की ओर भींचो तथा साथ २ नीचे और पीछे की ओर गर्भाशयान्तर्द्वार में धकेलो। यह हस्तव्यापार एक या दो बार से अधिक न करना चाहिये और ना हीं आकुञ्चन से अतिरिक्त समय में करना चाहिये। गर्भाशय को पार्श्व की ओर से नहीं पकड़ना चाहिये क्योंकि वहां डिम्बग्रन्थि (Ovaries) के भींचे जाने से दुःसह आघात पहुंच सकता है ॥ २३ ॥

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं[1] रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्बस्तौ बस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं

---

१ 'अवशोषितं' इति पा०।

करोति; ततश्च नाभिबस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यते[1] इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम् ॥ २४ ॥

मक्कल्ल का लक्षण—प्रसूता स्त्री–जिसका शरीर रूक्ष हुआ होता है–का रक्त पिप्पली आदि तीक्ष्ण औषधों द्वारा यदि शोधित न किया गया हो तो, वही रक्त उस स्थान पर गई हुई वायु से अत्यन्त रोका जाकर नाभि के नीचे दोनों पासों में, वस्तिदेश में अथवा वस्तिशिर में ग्रन्थि को पैदा करती है। तदनन्तर नाभि, वस्ति तथा पेट में शूल होता है और पक्वाशय में सुई चुभोने के समान वेदना होती है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई पक्वाशय को चीर रहा हो या फाड़ रहा हो। पेट में चारों ओर आध्मान होता है और मूत्र रुक जाता है। ये मक्कल्ल के लक्षण हैं ॥ २४ ॥

तत्र[2] वीरतर्वादिसिद्धं[3] जलमूषकादिप्रतीवापं[4] पाययेत्, यवक्षारचूर्णं[5] वा सर्पिषा सुखोदकेन वा, लवणचूर्णं पिप्पल्यादिक्वाथेन, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिक्वाथं[6] वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पर्ण्यादिक्वाथं[7] वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं, पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं[8] वा पिबेदरिष्टमिति ॥ २५ ॥

मक्कल्ल की चिकित्सा—वीरतर्वादिगण की औषधियों से सिद्ध क्वाथ में ऊषकादिगण की औषधियों का प्रक्षेप देकर पिलाना चाहिये।

---

१ 'दाल्यते' इति पा०।

२ 'सर्पिषा सुखोष्णेन लवणचूर्णेन वा' इत्यधिकः पाठः क्वचित्।

३ वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसुकवसिरभल्लूककुरण्टकेन्दीवरकपोतवङ्का श्वदंष्ट्रा चेति ॥

४ ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गूनि तुत्थकं चेति

५ 'यवक्षारचूर्णं वा पिप्पल्यादिक्वाथेन' इति पाठान्तरम्।

६ वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवसिरचित्रकशतावरीबिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयं चेति ॥

७ 'अंशुमतीद्वयक्वाथेन वा मरिचभद्रदारुकल्कम्' इति वृद्धवाग्भटे पाठः।

८ अच्छं केवलम्। अरिष्टमभयारिष्टादिकम् इति डल्हणः।

घी अथवा कोसे जल के साथ यवक्षार का चूर्ण सेवन कराना चाहिये। अथवा पिप्पल्यादिगण के क्काथ से सैन्धव नमक का चूर्ण, अथवा वरुणादिगण के काथ में पञ्चकोल तथा इलायची का प्रक्षेप देकर, अथवा पृथक्पर्ण्यादि औषधियों के क्काथ में देवदारु और कालीमिरच का चूर्ण मिलाकर, अथवा त्रिकटु, चतुर्जात और धनिये से मिश्रित पुराना गुड़ अथवा मक्कलचिकित्साधिकार में कहे गये स्वच्छ अरिष्टों का सेवन करावें ॥ २५ ॥

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत ॥ २६ ॥

इस प्रकार जब एक ओर सूतिका की चिकित्सा होरही हो, उधर दूसरी ओर बच्चे को स्नान कराने के पश्चात् क्षौम (Linen) का वस्त्र ओढ़ा कर जिस बिछौने पर क्षौम का वस्त्र बिछा हुआ हो, उस पर सुला दें और उस पर पीलु, बेर, नीम अथवा फालसे की शाखा द्वारा पंखा करें। उसके शिर पर प्रतिदिन तैल का फोहा रखें। और उसे रक्षोघ्न (Antiseptic) धूपों से धूपन किया करें। उसके हाथ पैर सिर तथा ग्रीवा आदि में रक्षोघ्न द्रव्य बांध दें। वहां तिल, अलसी एवं सरसों के चूर्ण को बखेर दे। जिस गृह में बच्चा हो वहां आग जलाये (धधकते कोयले) रखें तथा व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे गये अनुसार उत्तम गृह तथा रक्षोघ्न धूपन आदि विधानों का उपयोग करे ॥ २६ ॥

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ॥ २७ ॥

तदनन्तर माता पिता दसवें दिन मङ्गलोत्सव के पश्चात् स्वस्तिवाचन करके अपने को अभीष्ट अथवा नक्षत्र-सम्बन्धी नाम रखें ॥ २७ ॥

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमल

म्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य। तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् ॥ २८ ॥

धात्री नियुक्ति—तदनन्तर ब्राह्मण आदि वर्ण के अनुसार उसी वर्ण की धात्री-धाय को नियुक्त करे। जो मध्यम प्रमाण वाली अर्थात् जो न बहुत लम्बी, न बहुत मोटी हो, मध्यम आयु वाली, नीरोग, सुशील, जो चञ्चल न हो, जो लोभी-लालची न हो, जो पतली दुबली न हो, जो मोटी न हो, जिसका दूध साफ़ हो, जिसके होठ लम्बे न हों, जिसके स्तन बहुत ढीले अथवा बहुत कठिन न हों, जिसके अंग विकृत न हों, व्यसनों से रहित, जिसका बच्चा जीता हो, प्रभूत दूध वाली, प्यार करने वाली, जो नीच कर्म न करती हो, सद्वंश में पैदा हुई २ और इस ही लिये बहुत से शुभ गुणों से युक्त तथा श्यामा धात्री को बच्चे के बल और आरोग्य की वृद्धि के लिये नियुक्त करे। इनमें से ऊर्ध्वस्तनी [1]बच्चे को कराल (जिनके दांत लम्बे और ऊंचे उठे हुए हों) कर देती है। अर्थात् स्तनों के कठोर होने के कारण दूध पीते समय बच्चे के अगले मसूड़ों पर दबाव पड़ता है, जिस से उनका ऊपर का सिरा बहिर्मुख होजाता है और दांत जो पुनः उसी मार्ग से निकलते हैं वे भी बाहिर की ओर अधिक होकर निकलते हैं। स्त्री के लम्बे स्तनों के कारण कदाचित् दूध पिलाते समय बच्चे के नाक मुंह बन्द होजाने से मृत्यु की सम्भावना रहती है ॥२८॥

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरः स्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत् ॥ २९ ॥

तदनन्तर प्रशस्त तिथि के दिन धाय को पूर्व की ओर मुख करके

१ श्यामालक्षणं यथा—शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता ॥ श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति।

२ पीनोऽतिकन्धरास्तम्भं कुर्यादूर्ध्वाक्षमूर्ध्वगः। उच्छ्वासरोधान् लम्बोऽति स्तनो जीवितसंशयम्। अ० सं०।

बैठा कर बच्चे के शिर को धोकर स्वच्छ एवं नये वस्त्र पहना कर दक्षिण की ओर उसके पास उत्तर की ओर मुख करवा कर बैठा दें और धाय के दक्षिण स्तन को धोकर किञ्चित् दूध को दबाकर निकाल देने के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके स्तन से स्तन्यपान करवावें ॥२९॥

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः ॥
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थः—हे सुभगे ! बालक की बलवृद्धि के लिये क्षीर-दूध का वहन करने वाले चारों समुद्र तेरे स्तनों में हों। अर्थात् तेरे स्तनों में दूध प्रभूत मात्रा में पैदा हो, जिससे बच्चा दिन प्रतिदिन हृष्ट पुष्ट होता जाय ॥ ३० ॥

पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने ।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥ ३१ ॥

हे शुभानने ! तेरे दूध रूपी अमृत रस को पीकर बच्चा दीर्घायु हो, जैसे देवता अमृत का सेवन करके दीर्घायु होगये थे ॥ ३१ ॥

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्व्याधिजन्म भवति ॥३२॥

धाय भी एक ही होनी चाहिये । यह नहीं कि दो चार दिन बाद धाय को बदल दिया या दो धाय रखकर प्रतिदिन दो का दूध पिलाते रहे । क्योंकि नाना प्रकार के दूध के असात्म्य होने से बच्चों को बीमारियां होजाती हैं ॥ ३२ ॥

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः । तस्मादेवंविधं[1] स्तन्यं न पाययेत् ॥ ३३ ॥

दूध पिलाते समय स्तनों में से थोड़ा सा दूध पहिले निकाल देना चाहिये, क्योंकि देर से ठहरे हुए एवं दूध से भरे हुए स्तनपान से स्रोतों के भर जाने के कारण कास, श्वास तथा कै आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि देर से स्तन स्थित दूध पर शरीर पृष्ठ स्थित रोग-जनक कीटाणुओं का प्रभाव होजाता है और उस दूध में कुछ न कुछ सड़ावट पैदा हो सकती है, तथा च स्तनों के अत्यन्त भरा हुआ होने के

१ "तस्मादेवंविधानां" इति पा० ।

कारण शिशु के स्तन्यपान करते समय अधिक मात्रा में दूध आजाता है और खांसी आदि होने लगती है । इस प्रकार का स्तन्य (दूध) न पिलावें ।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दूध पिलाने के लिये धात्री की नियुक्ति तभी की जानी चाहिये, जब माता के पर्याप्त दूध न उत्पन्न होता हो, या दुष्ट दूध उत्पन्न होता हो, या निर्बल हो, या कोई स्थानीय (Local) या शारीरिक रोग हो । अन्यथा मातृदुग्ध ही सर्वोपरि है । कहा भी है—

मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये ।
स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पदि वत्सले ॥ ३३ ॥

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति । अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकाबिसाविदारिकन्दमधुकशतावरीनलिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥ ३४ ॥

स्तन्यनाश के कारण—क्रोध, शोक तथा बच्चे के प्रति प्रेम न होने से स्त्रियों के स्तनों से दूध नहीं आता ॥

स्तन्योत्पादक द्रव्य—(Galactagogues) यदि उपर्युक्त कारणों से स्तन्यनाश होगया हो तो उसे प्रिय वाक्यों तथा इष्टप्राप्ति आदि द्वारा प्रसन्न मन करके जौ, गेहूं, शालिचावल, सांठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर (कांजी, सिरका), पिण्याक (तिलकल्क), लहसन, मछली, कसेरू, सिंघाड़ा, बिस (भिस, कमलजड़) विदारीकन्द, मुलहठी, शतावर, नलिका (नाड़ीशाक), अलाबू (घीयाकद्दू), कालशाक प्रभृति द्रव्यों का सेवन करावें ॥ ३४ ॥

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवते न सीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति ॥ ३५ ॥

विशुद्ध दुग्ध की परीक्षा—धात्री के स्तन्य की जल में परीक्षा करें ।

१ '०तेऽवसीदति' इति पा० ।

यदि दूध ठण्डा, निर्मल, पतला, शङ्ख के समान श्वेत हो, जल में डालने से एकीभाव (पानी और दूध सर्वत्र एक समान मिल जांय) होजाय, भाग न हो, तन्तु युक्त न हो, जो पानी में तैरे नहीं (जिसकी Specific gravity आपेक्षिक गुरुत्व कम न हो), जो नीचे न जा बैठे (जिसका आपेक्षिक गुरुत्व अधिक न हो) उसे शुद्ध जानना चाहिये। उससे ही बच्चों को आरोग्य, एवं शरीरवृद्धि तथा बलवृद्धि होती है ॥ ३५ ॥

न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणीज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्ष्य[1]विरुद्धाहारतर्पितायाः स्तन्यं पाययेत्; नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधाशनानां[2] तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥ ३६ ॥

बुभुक्षित, शोकपीड़ित, थकी हुई, दुष्ट धातु वाली, गर्भिणी, ज्वर-युक्त, अतिक्षीण, अतिस्थूल (अत्यन्त मोटी) तथा जिसने विदाहजनक भोजन या जला हुआ अन्न खाया हो या विरुद्ध भोजन किया हो, उस स्त्री या धाय का दूध बच्चे को कभी न पिलाना चाहिये। और यदि इन दोषों में से धात्री में कोई दोष न भी हो तो भी जबतक बच्चे को सेवन कराई हुई औषध जीर्ण न होजाय तबतक वह दूध न पिलाना चाहिये, क्योंकि उस समय दूध पिलाने से दोष, औषध तथा भोजन के तीव्र वेगों की उत्पत्ति का भय रहता है ॥ ३६ ॥

भवन्ति चात्र।

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा ॥
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥ ३७ ॥

भारी, विषम भोजन तथा दोषोत्पादक आहार से धात्री के देह में वात आदि दोष प्रकुपित होजाते हैं, जिस से दूध भी दोषदुष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः ॥
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ॥
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥ ३८ ॥

---

१ '० विदग्धभक्त०' इति पा०।

२ दौषौषधमलानां इति पाठान्तरे मलाः पुरीषादयः। अयं पाठः केषुचित्पुस्तकेषु नोपलभ्यते।

मिथ्या आहार और विहार करने से वात आदि दुष्ट होकर स्त्री के दूध को दूषित कर देते हैं, जिससे शिशु को शारीर रोग उत्पन्न होजाते हैं। कुशल वैद्य को चाहिये कि वह इन रोगों को अच्छी प्रकार जाने ॥३८॥

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ॥
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३९ ॥

बालकों के रुग्णदेश जानने का प्रकार—शिशु को जिस २ अङ्ग प्रत्यङ्ग में वेदना होती है, वह उस स्थल को बार २ छूता है और स्पर्श-करने पर रोता है ॥ ३९ ॥

निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत् ॥
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥ ४० ॥

यदि मूर्द्धा-मस्तक में वेदना हो तो आंखें बन्द करता है। यदि शिरो-रोग हो तो वह शिर को धारण नहीं कर सकता, एक पासे गिरा देता है।

यदि वस्ति में रोग हो तो कष्ट के कारण मूत्र रुक जाता है, उसे प्यास लगती है और वह मूर्च्छित होजाता है ॥ ४० ॥

विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः ॥
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥ ४१ ॥

मलवन्ध (कब्ज़), मूत्र न आना, विवर्णता, कै, आध्मान तथा आन्त्रकूजन (आंतों में शब्द होना) आदि लक्षणों से कोष्ठ में दोष है—ऐसा समझे। और स्वभावातिरिक्त रोने से सम्पूर्ण शरीरगत दोष को जाने ॥ ४१ ॥

तेषु च यथाभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीर-सर्पिषा धात्र्याश्च विदध्यात्, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च, अन्ना-दस्य कषायादीन्यात्मन्येव न धात्र्याः ॥ ४२ ॥

उन २ रोगों में यथोक्त मृदु एवं तीव्रवेग रहित कफ और मेद को नष्ट न करने वाली औषध मात्रा में स्तन्यपायी शिशु को दूध और घी के साथ दें तथा धाय को औषधमात्र सेवन करावें। दूध तथा अन्न खाने वाले बच्चे के रोगों में उसे स्वयं तथा धाय दोनों को औषध दें। अन्न खाने वाले बच्चे के रोग में क्वाथ आदि औषध उस बच्चे को ही दें, धाय को न दें ॥४२॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रह (ण) संमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमितामन्नादायेति ॥ ४३ ॥

औषधमात्रा—एक मास से ऊपर वाले बच्चे को अंगुलि की दो पोरों में जितनी औषध पकड़ी जा सके उतनी ही औषध की मात्रा दें। दूध तथा अन्न खाने वाले बच्चे को बेर की गुठली के परिमित (४ रत्ती) कल्क या चूर्ण औषध की मात्रा है। अन्नसेवी के लिये बेर परिमित (६ या ८ रत्ती) कल्क चूर्ण की मात्रा है। यह एक साधारण तौर पर मात्राकल्पना के लिये कह दिया है—वस्तुतस्तुः—

मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः।
व्याधिं द्रव्यञ्च कोष्ठञ्च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत् ॥

अर्थात् मात्रा का कोई निश्चित नियम नहीं है। वात आदि दोष, जाठराग्नि, बल, उम्र, रोग, तीक्ष्णवीर्य मृदुवीर्य आदि औषध और कोष्ठ को देख कर मात्रा निर्धारित करनी चाहिये। परन्तु साधारणतया औषध प्रयोग के लिये केवल उम्रको दृष्टि में रखते हुए हम यह नियम कर सकते हैं कि—रोगी की जितनी आयु हो उसका १६ वां भाग करके पूर्णमात्रा का उतना भाग उस के लिये औषध की मात्रा है। अर्थात् यदि किसी चूर्ण की मात्रा ४ मासे हो, तो एक वर्ष के बच्चे के लिये $\frac{१}{१६}\times४=\frac{१}{४}$ मासा = २ रत्ती (आजकल के मान के अनुसार), दो वर्ष के बच्चे के लिये $\frac{२}{१३}\times४=\frac{१}{२}$ मासा = ४ रत्ती (आज कल के मान के अनुसार), चार वर्ष के बच्चे के लिये $\frac{४}{१६}\times४$ = १ माशा = ८ रत्ती (आजकल के मान के अनुसार) मात्रा होगी ॥ ४३ ॥

१ तन्त्रान्तर में कहा है—प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका। अवलेह्या तु कर्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः। एकैकां वर्धयेत्तावद्यावत्संवत्सरो भवेत्। तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्याद्यावत् षोडशकाब्दिकः। अर्थात् उत्पन्न हुए २ शिशु को एक मास तक एकरत्ति मात्रा में औषध सेवन करानी चाहिये और वर्ष में प्रतिमास एक रत्ती मात्रा बढ़ाते जांय। तदनन्तर प्रति वर्ष एक २ मासा बढ़ाते जांय जबतक १६ वर्ष का न हो जाय। यह मात्रा लगभग १ तोले के होगी। परन्तु यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि दूध, घी, खांड तथा मधु आदि युक्त जो लेह होगा, उसी की ये मात्रा (आज कल के लिये) है और उसके अनुसार ही उपर्युक्त मात्राविभाग दर्शाया है।

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः ।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥ ४४ ॥

जिन २ रोगों के जो २ रोगनिवारक योग कहे जांयगे, उन २ रोगों में उन २ योगों के कल्क से स्तनलेपन करके शिशु को दूध पिलावें ॥४४॥

एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ।
स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः[1] ॥ ४५ ॥

स्तन्यपायी शिशु के लिये वातज, पित्तज, तथा कफज ज्वर में क्रमशः एक, दो तथा तीन दिन तक घृत का प्रयोग अहितकर है। क्षीरान्नाद तथा अन्नाद बालकों के लिये जैसा चिकित्साधिकार में निवृत्ति के लिये कहा है वैसा ही समझना चाहिये, अथवा यथाप्रयोजन कराना चाहिये। चरकने चिकित्साधिकार में कहा है—

दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ।
अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।
परिपक्केषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथामृतम् ॥
निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् ।
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः शमनैस्तमुपाचरेत् ॥

अर्थात् ज्वर में दस दिन तक लघु अन्न सेवन कराना चाहिये। तत्पश्चात् कफ के मन्द हो जाने पर वातपित्तप्रधान ज्वर में दोषों के परिपाक हो जाने पर घृतपान अमृत के समान होता है। परन्तु यदि कफ प्रधान हो, लङ्घन से उत्पन्न होने वाले लक्षण न दिखाई दें तो दस दिन व्यतीत हो जाने पर भी घृतपान न करावे, उसकी शमन द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ ।
विरेकबस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥ ४६ ॥

१—यथार्थत इति निवृत्त्यपरपर्यायोऽयमर्थशब्दो यथा मशकार्थो धूम इति। तथा च अर्थ— 'निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् । न सर्पिः पाययेत्'' इत्युक्तं ज्वरप्रतिषेधे वक्ष्यमाणञ्च प्रतिषेधमनतिक्रम्य इतराभ्यामन्नादक्षीरान्नादाभ्यान्तु सर्पिरहित-मुपदिशेदित्यर्थः इति हाराणचन्द्रः। इतराभ्यां क्षीरान्नादान्नादाभ्यां यथार्थतः यथाप्रयोजनतः, हितं सर्पिरित्यर्थः इति डल्हणः।

ज्वर में बच्चे को स्तनपान न करावे, क्योंकि इस समय तृष्णा का भय होता है। जो कि अजीर्ण की निदर्शक होती है। अर्थात् जब तक अजीर्ण की आशङ्का न हो तब तक थोड़ा २ दूध पिलाना ही चाहिये। पर यदि अजीर्ण की आशङ्का हो तो न पिलावें और उसकी जगह उपयुक्त औषधों से सिद्ध किया हुआ जल पिलाते रहें।

आत्ययिक (प्राणनाशक रोग) अथवा रोग की आत्ययिक अवस्था को छोड़ कर शिशु को विरेचन, वस्ति तथा वमन न कराना चाहिये ॥ ४६ ॥

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम्।
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा ॥ ४७ ॥

मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क Grey and white matter) के क्षय के कारण वायु जिस शिशु की ताल्वस्थि को झुका देता है, तृषा और दीनता से युक्त उस शिशु को मधुरगण (जीवनीयगण) की औषधों से सिद्ध घी का पान तथा अभ्यङ्ग कराना चाहिये और ठण्डे जल का आंख आदि पर परिषेक करना चाहिये ॥ ४७ ॥

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥ ४८ ॥

यदि शिशु की नाभि वायु के कारण फूली हुई हो, और उसमें वेदना होती हो उसे तुण्डिनाभि कहते हैं, इसकी शान्ति के लिये वात-नाशक स्नेह, स्वेद तथा उपनाहन (Poultice) करना चाहिये ॥४८॥

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥ ४९ ॥

बालकों के गुदपाक (गुदा का पक जाना) नामक रोग में पित्तनाशक क्रिया करें। और विशेष करके पान तथा लेप में रसौंत का प्रयोग हितकर है ॥ ४९ ॥

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्ग-शतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुक-

वचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धं; तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति ॥ ५० ॥

स्तन्यपायी शिशु को सिद्धार्थक (गौरसर्षप), वच, जटामांसी, क्षीरकाकोली, अपामार्ग (चिरचिटा) शतावर, सारिवा (अनन्तमूल), ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी, कुठ तथा सैंधानमक, इन से साधित घृत उपयुक्त मात्रा में पिलावें। क्षीरान्नाद बालक को मुलहठी, वच, पिप्पली, चित्रक तथा त्रिफला से साधित घृत पिलावें। अन्नाद बालक को दोनों पञ्चमूल, क्षीरविदारी, तगर, देवदारु, कालमिरिच, मुलहठी, वायविडङ्ग, मुनक्का तथा दोनों ब्राह्मी (मण्डूकपर्णी तथा ब्राह्मी) से साधित घृत पिलावें । इनके सेवन कराने से बच्चे को आरोग्य तथा बल, बुद्धि एवं आयु की वृद्धि होती है ॥ ५० ॥

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात्, सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः; एवमनभिहतमनास्त्वभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति। वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥ ५१ ॥

बच्चे को जब उठाना हो तब इस प्रकार आराम से उठावें कि उसे किसी प्रकार का दुःख न हो। उसको झिड़के नहीं । उसे अचानक एकदम न जगावे, क्योंकि एकदम जगाने से बच्चा डर जाता है । उसे सहसा दूसरे के पास से खींचकर भी न उठावे। उसे सहसा ऊंचा भी न उछाले, अन्यथा वात आदि के प्रकोप का डर रहता है । बच्चे को —जबतक वह शक्तिमान् न हो जाये—न बैठावें, अन्यथा उसके कुबड़े हो जाने का डर रहता है। प्रतिदिन उसकी हिंसा न चाहने वाला

१—'द्राक्षार्धिब्राह्मीसिद्धं' इति पा०।
२—'एवमविहतमना ह्यभिवर्धते' इति पा०।

अर्थात् प्यार करता हुआ सैकड़ों प्रियपदार्थों द्वारा उसकी सेवा करे, उसका दिल बहलावे । इस प्रकार करने से बच्चे के मन पर किसी प्रकार की चोट नहीं लगती और वह दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता है, तथा उत्कृष्ट सत्त्व युक्त, नीरोग तथा सुप्रसन्न मन वाला होता है । बच्चे को आंधी, धूप, बिजली की चमक, वृक्ष, लता, शून्यगृह, कूप आदि निम्नस्थान, ग्रह की छाया आदि तथा दुष्टग्रहों के उपद्रवों से बचाये ॥ ५१ ॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च ।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥ ५२ ॥

बच्चे को मैली जगह पर, आकाश में (ऊंचा उछालना आदि) तथा ऊंची नीची जगह पर न छोड़ें । गर्मी, आंधी, वर्षा, धूल, धूआं, पानी आदि में भी न छोड़ें ॥ ५२ ॥

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा ।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥ ५३ ॥

बच्चों के दुग्धसात्म्य होने के कारण जब तक स्तनों में दूध न उत्पन्न होवे तबतक बकरी या गौ का दूध मात्रा में देवें ॥ ५३ ॥

षण्मासात् चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥ ५४ ॥

छः महीने के बाद बच्चे को हलका, एवं हितकारक अन्न थोड़ा २ खिलाना शुरू करें । परन्तु इस समय अन्न हलका, नरम, द्रव तथा बल कारक होना चाहिये । इस समय प्रायः बच्चों के दांत निकलने शुरू होते हैं जो कि इस बात के निदर्शक होते हैं कि बच्चे में अन्न के पचाने की शक्ति उत्पन्न हो रही है । वस्तुतस्तु जितनी देर से बच्चे को अन्न खिलाया जायगा वह स्वस्थ रहेगा । कम से कम एक वर्ष तक बच्चे को केवल दूध पर ही रखना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने कहा भी है—

" चिरान्निषेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते "

अर्थात् देर से अन्न खिलाने से बच्चा रोगी नहीं होता ॥५४॥

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्; प्रयतश्च ग्रहोप-

५—षण्मास इति पा०

सर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति ॥ ५५ ॥

बच्चे की रक्षा करता हुआ प्रतिदिन बच्चे को अवरोध (परिजनों से घिरा हुआ) में रखे अन्यथा नाना प्रकार के उपद्रवों (गिरना आदि) का डर रहता है और ग्रहों के उपद्रवों से बच्चों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छुन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥ ५६ ॥

ग्रहोपसृष्ट के सामान्य लक्षण—बच्चा उद्विग्न होता है, डरता है, रोता है, मूर्च्छित हो जाता है धाय, और अपने को नख और दांतों से काटता है, दांतों को कटकटाता है, आवाज़ करता है, जम्भाई लेता है, भौंहों को ऊंचा उठाता है, ऊपर देखता है, मुंह से झाग निकालता है, ओठ को दांत से काटता है, क्रूर, जिसे कच्चा और पतला मल आता है, दीन तथा दुःखित स्वरवाला, रात को नींद नहीं आती, दुर्बल, मुरझाये हुए अंगों वाला, जिसमें से मछली, छछूंदर अथवा खटमल की सी दुर्गन्ध आती हो, जैसा पहले धाय का दूध चाहता था वैसा अब नहीं चाहता, ये ग्रहयुक्त बालक के संक्षेप से लक्षण होते हैं। विस्तार से उत्तरतन्त्र में कहेंगे ॥ ५६ ॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥ ५७ ॥

बच्चे को शक्तिमान् जानकर ब्राह्मणादिवर्ण के अनुसार जैसी विद्या अभीष्ट हो पढ़ावे ॥ ५७ ॥

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥ ५८ ॥

१—'पत्नीमाहरेत्' इति पा० । वाग्भटे तु 'पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता' इति पठ्यते । वृद्धवाग्भटे तु 'पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयां......उद्वहेत्; तस्यां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं यतेत, तदा हि तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितमपत्यं जनयतः' इति पठ्यते ।

जब २५ साल तक विद्याध्ययन कर चुके तो इस पच्चीस वर्ष की उम्र वाले युवा का बारह वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे, जिससे कि वह पितृ हितकर धर्म, अर्थ काम तथा प्रजा (सन्तान) को प्राप्त हो ॥ ५८ ॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ ५९ ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ६० ॥

सोलह वर्ष की आयु से कम आयु वाली कन्या में और पच्चीस वर्ष की आयु से कम आयु वाला पुरुष यदि गर्भाधान करता है तो वह गर्भ कोख (गर्भाशय) में ही मर जाता है। यदि वह उत्पन्न होजाय तब देर तक नहीं जीता। अथवा वह देर तक भी जीवे तो वह दुर्बल इन्द्रियों वाला रहता हुआ ही जीता है। अतएव अत्यन्त छोटी कन्या में कभी भी गर्भाधान न करे ॥ ५९–६०॥

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत । पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति ॥ ६१ ॥

अतिवृद्धा दीर्घ काल से रोगिणी अथवा किसी रोग से रुग्ण स्त्री में भी गर्भाधान न करना चाहिये। पुरुष के भी इसप्रकार के होने से भी वही दोष होते हैं। अर्थात् विवाह उन्हीं में परस्पर होना चाहिये जो पूर्ण युवा और युवती हों और सर्वथा स्वस्थ हों ॥ ६१ ॥

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटावङ्क्षणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयशृतक्षीरपानैश्च ॥ ६२ ॥

गर्भपातचिकित्सा—गर्भावक्रान्ति अध्याय में अथवा मूढगर्भनिदान में कहे गये व्यायाम आदि कारणों से होने वाले गर्भपात के निदर्शक ये लक्षण दिखाई देते हैं। वे लक्षण ये हैं—गर्भाशय, कमर, वङ्क्षण तथा वस्तिदेश में वेदना और योनि से रक्त आना। जब ये लक्षण

१—'ऊनद्वादशवर्षायां' इति क्वचित् पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते ।

दिखाई दें उस समय शीतल परिषेक, अवगाहन तथा प्रलेपों से बाह्य-चिकित्सा करें और अन्तःप्रयोगार्थ जीवनीयगण की औषधों से सिद्ध दूध पिलावें ॥ ६२ ॥

गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत् ॥ ६३ ॥

यदि गर्भ का स्फुरण होता हो तो, उस के धारण के लिये वार-म्वार उत्पलादिगण से सिद्ध दूध पिलावें ॥ ६३ ॥

प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं चोपक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः ॥६४॥

यदि गर्भस्रंस होता हो तो पार्श्वों और पीठ में दाह युक्त शूल, रक्तप्रदर, आनाह तथा मूत्रसङ्ग (मूत्ररोध) आदि लक्षण होते हैं। गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए कोष्ठ में शोथ होजाता है। वहां स्निग्ध एवं शीत क्रिया करनी चाहिये ॥ ६४ ॥

वेदनायां महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्टाकण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत्; मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धं; आनाहे हिङ्गुसौवर्चल-लशुनवचासिद्धम् ॥ ६५ ॥

वेदना होने पर महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), मुलहठी, गोखरू, कण्टकारी (छोटी कटेरी, भटकटैया), इन से सिद्ध दूध में खांड और मधु डालकर पिलावें। यदि मूत्रसङ्ग हो तो दर्भ आदि तृणपञ्चमूल से सिद्ध दूध हितकर है। आनाह में हींग, सौंचल नमक, (इन दोनों का प्रक्षेप) लहसन तथा वचा से साधित दूध दें ॥ ६५ ॥

अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागारिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुम-नवमालिकागैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथालाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूककल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दक्काथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत् ॥ ६६ ॥

अत्यन्त रक्त स्राव होने पर कोष्ठागारिका नामक जन्तु के घर की

मट्ठी, मञ्जिष्ठा अथवा लज्जालु, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरू, सर्जरस (राल) एवं रसौंत; इन में से जितने द्रव्य प्राप्त हों उनके चूर्ण को शहद के साथ चटावें। अथवा वट आदि क्षीरिवृक्षों की त्वचा या नवीन अंकुरों के कल्क को दूध के साथ पिलावें। अथवा उत्पलादि गण के कल्क को या कसेरू, सिंघाड़ा तथा कमल के कन्द के कल्क को उबाले हुए दूध के साथ पिलावें । अथवा शालिधान्य के कल्क या चूर्ण को गूलर के फल तथा जल में होने वाले कमल आदि के कंद के क्वाथ-जिसे खांड और मधु डालकर मीठा कर लिया हो—के साथ सेवन करावें। अथवा कपड़े को वट आदि के स्वरस से गीला करके सुखालें, इस प्रकार तीन चार वार स्वरस पिलाकर उस वस्त्र को स्त्री योनि में धारण करे ॥ ६६ ॥

अथादृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्यासिद्धं[2] पयः[3] पाययेत्, तदेवाश्मन्तक[4]शतावरीपयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहतीद्वयोत्पलशतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवं क्षिप्रमुपक्रा-[5]न्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते ॥ ६७ ॥

जब वेदना तो हो पर रक्तस्राव न हो तब मुलहठी, देवदारु, तथा क्षीर काकोली से साधित दूध पिलावें। अथवा अश्मन्तक (पाषाणभेद) शतावर, क्षीरकाकोली से साधित अथवा विदारीगन्धादि गण की औषधियों से साधित अथवा छोटी कटेरी (भटकटैया), बड़ी कटेरी (वनभांटा) नीलोत्पल, शतावर, सारिवा (अनन्तमूल), क्षीरकाकोली तथा मुलहठी से साधित दूध पिलावें। इस प्रकार चिकित्सा करने से वेदनायें नष्ट होजाती हैं और गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥

व्यवस्थिते च गर्भे गव्येनोडुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत् ॥६८॥

गर्भ के व्यवस्थितास्थिरहोने पर कच्चे गूलर के फल से साधित गोदुग्ध के साथ भोजन करावे ॥ ६८ ॥

---

१ उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति ।

२ पयस्या अर्कपुष्पी इति डल्हणः ।

३ क्षीरपाकपरिभाषा—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥

४ अश्मन्तकः कर्बुदाराकारः । अश्मन्तकः कोमलपत्रो मधुरफलः इति केचित् ।

५ 'एवमुपक्रान्तायाः' इति पा० ।

अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि ॥ ६९ ॥

यदि गर्भ गिर जावे तो पाचनीय द्रव्यों (शुण्ठी जीरक आदि) से संस्कृत, नमक तथा घृत आदि से रहित उद्दालक (जंगली कोदों) आदि धान्य से निर्मित यवागू पिलावें। ये यवागू उतने दिन पिलानी चाहिये जितने महीने का गर्भ हो ॥ ६९ ॥

बस्त्युदरशूलेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा ॥७०॥

वस्तिदेश, तथा उदर में शूल होने पर दीपनीय द्रव्यों से युक्त पुराना गुड़ खिलावें अथवा चिकित्साधिकारोक्त अरिष्ट पिलावें ॥७०॥

वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम् ॥ ७१॥

स्रोतों के वात के उपद्रवों से युक्त होने पर गर्भ लीन होजाता है। वह बहुत देर तक गर्भाशय में रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त होजाता है। इस लीनगर्भ नामक रोग में उस स्त्री की मृदु स्नेह, स्वेद आदि क्रम से चिकित्सा करें। उत्क्रोश (कुररी-पक्षिविशेष) के मांसरस से साधित यवागू में पर्याप्त मात्रा में घृत मिलाकर गार्भिणी को पीने के लिये दें। अथवा उड़द, तिल तथा बेलगिरी से सिद्ध किये हुए कुल्माष (अर्द्धस्विन्न गेहूं आदि) खिलावे या मधु तथा माध्वीक (एक प्रकार की सुरा) सात दिन तक पीवे ॥ ७१ ॥

कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवते ॥ ७२ ॥

गर्भाशय में रहने के काल[1] से (९-१० मास) अधिक काल तक रहने

---

१. प्रायः गर्भाशय में गर्भावस्थिति काल २७३ दिन का हुआ करता है। विशेष अवस्थाओं में इस काल में बहुत परिवर्तन पाया जा सकता है। पूर्ण विकसित बच्चे २४० दिन के बाद भी होते पाये गए हैं। इसी प्रकार ३००, ३१३ तथा ३२० दिन का भी गर्भावस्थिति काल देखा गया है। अभी तक इतनी भिन्नता का कारण पूर्णरूप से ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु कहा जाता है कि ये भिन्नता ऋतुचक्र (Menstrual Cycle) की भिन्नता के कारण

वाले गर्भ में विशेषतः गर्भिणी ऊखल में धान डालकर मूसल से कूटे। अथवा विषम सवारी या आसन पर बैठे। अभिप्राय यह है कि इससे झटके मिलने कारण गर्भ के बाहिर निकलने में सुगमता होसकती है ॥७२॥

वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत् ॥ ७३ ॥

वात के प्रकोप के कारण ही गर्भ सूख भी जाता है। वह माता के गर्भाशय में पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और अन्दर मन्द २ गति करता है, उस समय गर्भिणी को बृंहण करने वाले दूध तथा मांसरस आदि सेवनार्थ देने चाहियें, जिससे गर्भ पुष्ट हो ॥ ७३ ॥

होती है। जिन स्त्रियों का ऋतुचक्र २२ या २४ दिन में पूरा होता है उनमें गर्भावस्थितिकाल उन स्त्रियों की अपेक्षा जिनमें २८ दिन में पूरा होता है, कम होता है। आधुनिक अन्वेषणों से पता लगा है कि गर्भावस्थितिकाल की दीर्घता गर्भाशय की दीवारों के वसाक्रान्त तथा निर्बल होने के कारण होती है

इस गर्भावस्थितिकाल को साधारणतः २७३ दिन का मानते हुए हम प्रसव की तिथि भी जान सकते हैं। इसको जानने का निम्न प्रकार है—

यह मानकर कि अन्तिम ऋतुकाल के ठीक बाद ही मैथुन सफल होगया है, हमें सम्भावित तिथि का बहुत कुछ शुद्ध परिज्ञान होजाता है।

अन्तिम ऋतुकाल के प्रथम दिन से (जिसकी तिथि स्त्री को याद होनी चाहिए) गणना करते हुए ४ दिन ऋतुस्राव के लिये और ३ दिन शुक्रशोणित के अंकुरित (Fertilization) होने के पहिले के मिलाकर ७ दिन होते हैं। अब इन सात दिनों को गर्भावस्थितिकाल (२७३ दिवस) में जोड़कर हम बता सकते हैं कि अन्तिम ऋतुकाल के प्रारम्भ से २८० दिन बाद प्रसव का दिन है। अथवा अन्तिम ऋतुकाल की प्रारम्भ की तिथि में ७ दिन जोड़ कर जो तिथि आवे वही अगले नौवें महीने में या पिछले तीसरे महीने में प्रसव की तिथि होगी। उदाहरण के लिये यदि किसी स्त्री को अन्तिम मासिक स्राव ३ सितम्बर को प्रारम्भ हुआ तो उसमें ७ दिन जोड़कर १० सितम्बर तिथि होगी, अब इससे आगे ९ महीने या पीछे तीन महिने गिन जाओ। प्रसव का सम्भावित दिन १० जून आवेगा।

यह तिथि लगभग रूप में ही होती है। कई अवस्थाओं में कुछ दिन पहिले तथा कइयों में तीन सप्ताह बाद तक प्रसव होसकता है

१ उपविष्टकोपशुष्कयोः वृद्धवाग्भटोक्ता सम्प्राप्तिः—यस्याः पुनर्महति जातसारे गर्भे वर्ज्यानवर्जनात् पुष्पदर्शनं स्यादन्यद्वा योनिस्रवणम्। तस्यास्तन्निमित्तं वायुः प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्य गर्भस्य रसवहान्नाडीं प्रतिपीड्यावतिष्ठते। ततो नाड्यां दोषैः कुल्यायामिव तृणपत्रादिभिः प्रतिच्छन्नायां रसस्यासम्यग्वहनाद्गर्भो वृद्धिमनाप्नुवन्नुपविशत्युपशुष्यति वा।

शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः, तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः ॥ ७४ ॥

वायु से आक्रान्त हुआ २ शुक्र (शुक्रोपलक्षित शुक्राणु) तथा शोणित (शोणितोपलक्षित डिम्ब) अर्थात् गर्भ; जिस में जीवात्मा का प्रवेश भी हो चुका है, पेट को फुला देता है । वह कदाचित् अचानक शान्त होजाता है, अर्थात् एक दम पेट पतला हो जाता है, तब नैगमेष ने चुरा लिया या छीन लिया है—ऐसा कहा जाता है (अर्थात् ऐसे गर्भ को नैगमेषापहृत कहते हैं) । वह ही कदाचित् लीन होजाय (और कदाचित् फूल जाय) तो उसे नागोदर कहते हैं । इस की भी लीनगर्भ की तरह ही चिकित्सा होती है ॥

चरक तथा वृद्धवाग्भट में लीनगर्भ, उपविष्टक तथा उपशुष्कक या नागोदर ये तीन रोग माने हैं, इनकी विभेदक पहिचान यही है कि लीनगर्भ में यद्यपि गर्भ तो पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु वह स्पन्दन अर्थात् गति नहीं करता । कहा भी है—

यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः । अ० सं० ॥

उपविष्टक में गर्भ पूर्णवृद्धि को प्राप्त नहीं होता, इसका कारण योनि से कभी २ रक्तस्राव आदि होना है । चरक में कहा है—

यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्याः महति जातसारे गर्भे पुष्पदर्शनमन्यो वा योनिस्रावः तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात् । स कालान्तरमवतिष्ठते सस्पन्दश्च भवति, तमुपविष्टकमित्याचक्षते ।

उपशुष्कक में पहिले तो गर्भ की वृद्धि हो जाती है, पर वह अत्यन्त रक्तस्राव आदि जन्य वातप्रकोप के कारण पीछे से सूख जाता है ।

यदा तु प्रतिमासमार्तवं प्रत्यहं वा परिस्रवणं नात्यल्पं च तदा परिहीयमाणो गर्भश्चिरात् किंचित्स्पन्दते । कुक्षिश्च वृद्धोऽपि परिहीयते, तदुपशुष्ककं नागोदरञ्च ।

सुश्रुत में उपविष्टक नाम से पृथक् कोई रोग नहीं ग्रहण किया, तथा उपशुष्कक और नागोदर को पृथक् २ पढ़ा है ॥ ७४ ॥

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः—

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च ।

अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥ ७५ ॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा ।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥ ७६ ॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥ ७७ ॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः ।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः ॥ ७८ ॥

अब मासानुमासिक क्रम बतायेंगे । अर्थात् गर्भावस्थिति काल के दस मासों में गर्भपात आदि से बचाने के लिये किन २ योगों का प्रयोग- कराना चाहिये ?

१—मुलहठी, सागवान के बीज, क्षीरकाकोली, देवदारु । २— पाषाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावर । ३—वृक्षादनी (वन्दाक), क्षीरकाकोली, लता (गिलोय अथवा प्रियङ्गु), नीलोत्पल, अनन्तमूल। ४— अनन्ता (दुरालभा या दूर्वा), सारिवा (अनन्तमूल), रास्ना, पद्मा (भार्गी), मुलहठी । ५—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गाम्भारी, वट आदि क्षीरिवृक्षों के अंकुर, तथा छाल, घी । ६—पृश्निपर्णी (पिठवन), बलामूल, शिग्रु (शोभाञ्जन, सहिजन की छाल), गोखरू, मधुपर्णी (गिलोय या जीवन्ती)। ७—सिंघाड़ा, बिस (कमलदण्ड), मुनक्का, कसेरू, मुलहठी, खांड । ये आधे श्लोक में समाप्त होने वाले सातों योग (चूर्ण रूप) यथाक्रम सातों मासों में गर्भस्राव या गर्भपात होने की शंका पर दूध के साथ प्रयोग करावें ॥ ७५–७८ ॥

कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिका-
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद्भिषगष्टमे ॥ ७९ ॥

आठवें महीने में वैद्य को चाहिये कि वह कैथ, बड़ी कटेरी, बेल,

१ अश्मन्तकः कोविदारसदृशोऽम्लपत्रः 'अम्ललोटक' इति लोके इति डल्हणः।
२–लता प्रियङ्गुः इतीन्दुः । ३ अनन्ता दूर्वेति इन्दुः
४ मधुपर्णी जीवन्ती इति अष्टाङ्गसंग्रहव्याख्यायामिन्दुः ।

पटोल, ईख, छोटीकटेरी; इनकी जड़ों से क्षीर को सिद्ध करके पिलावे। यह स्मरण रखना चाहिये कि पटोलमूल स्वल्प मात्रा में ही डाला जाय, क्योंकि ये तीक्ष्णविरेचक है। उत्तम तो यह होगा कि पटोल का मूल न डालकर पत्र ही डाला जाय ॥ ७९ ॥

नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत् ॥ ८० ॥

नौवें महीने में मुलहठी, अनन्ता (दुरालभा या अनन्तमूल), क्षीर-काकोली, शारिवा (अनन्तमूल या श्यामालता), इनको पीवे ॥ ८० ॥

क्षीरं शुठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम्।
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥ ८१ ॥

दसवें महीने में सोंठ तथा क्षीरकाकोली से साधित दूध अथवा सोंठ, मुलहठी तथा देवदारु के चूर्ण को दूध के साथ पीवे। इस प्रकार मासानुमासिक के प्रयोग से गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है, और तीव्र वेदनायें शान्त होजाती हैं ॥ ८१ ॥

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति ॥ ८२ ॥

निवृत्तप्रसवा स्त्री के ६ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाला बच्चा अल्पायु होता है। अर्थात् एक प्रसव होने के पश्चात् यदि ६ वर्ष तक कोई गर्भस्थिति न हो और इतने काल के बाद गर्भस्थिति होकर प्रसव हो तो वह सन्तान निर्बल होती है। परन्तु हाराणचन्द्र इसकी व्याख्या दूसरी प्रकार करता है--साधारणतः ५० वर्ष की उम्र में स्त्रियों के निवृत्त-प्रसवा होने का समय होता है। इस समय मासिकधर्म बन्द होजाता है, परन्तु उत्तम आहार तथा रसायन आदि के सेवन से यदि मासिकधर्म प्रवृत्त रहे तो ६ वर्ष तक दीर्घायु सन्तान पैदा होसकती है। परन्तु इस के बाद निर्बल एवं अल्पायु सन्तान ही होती है ॥ ८२ ॥

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः ॥ ८३ ॥

गर्भिणीचिकित्सा सम्बन्धी कुछ इशारे—किसी तीव्र व्याधि के उत्पन्न होने पर यदि संशोधन के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से रोगनिवृत्ति सम्भव न हो तभी वमन करावे। मधुर तथा अम्लरस युक्त औषध अन्न के अन्दर छिपाकर अनुलोमनार्थ दे। मृदु संशमन द्रव्य दे। और अन्नपान में ही मृदुवीर्य, मधुरप्राय तथा गर्भ को हानि न पहुंचाने वाली औषध का सेवन करावें। इसी प्रकार मृदु एवं गर्भाविरोधिनी क्रियायें यथावसर करनी चाहियें ॥ ८३ ॥

भवन्ति चात्र।

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा।
मत्स्याक्षकः[1] शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥ ८४ ॥
अर्कपुष्पी[2] मधुघृतं चूर्णितं कनकं वचा।
हेमचूर्णानि कैडर्यः[3] श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥ ८५ ॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥ ८६ ॥

१ सुवर्णभस्म, कुठ, मधु, घी, वच। २—ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी (संखाहुली), शहद, घी, सुवर्णभस्म। ३—अर्कपुष्पी (पयस्या) शहद, घी, सुवर्णभस्म, वच। ४—सुवर्णभस्म, कैटर्य (गाम्भारी), श्वेता (वंशलोचन अथवा अपराजिता) दूर्वा, घी, मधु,। ये आधे २ श्लोकों में चार प्राश बताये गये हैं जो कि बच्चों के शरीर, मेधा (स्मरणशक्ति), बल तथा बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं ॥ ८४—८६ ॥

इति आयुर्वेदाचार्य जयदेव विद्यालङ्कार विरचितायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां सुश्रुतव्याख्यायां
शारीरस्थाने दशमोऽध्यायः।

———

१ मत्स्याक्षको ब्राह्मी। पत्तूर इत्येके। अन्ये रक्तपुष्पमानूपं 'मत्स्याक्षक' इति लोके प्रसिद्धमाहुः।

२ अर्कपुष्पी पयस्या अर्कसदशपत्रपुष्पा लतैव। श्वेतदूर्वाविशेषां केचिदाहुः,वृक्षजातिमन्ये।

३ कैडर्यः पर्वतनिम्बः इति डल्हणः। परं कामुके लघुकाश्मर्या कैडर्योऽन्यकरञ्जके। इति अनेकार्थकोषे। तथा च गर्भे शुष्के तु वार्तने बालानां चापि शुष्यताम्। सितकाश्मर्यमधुकौर्हितमुत्थापने पयः। इत्यादि योगेषु काश्मर्यप्रयोगदर्शनात् कैडर्यो गाम्भारी इति।

नवीन आयुर्वैदिक ग्रंथ।

माधवनिदान मूलमात्र—जेबी गुटका। प्रत्येक श्लोक के ऊपर उसका विषय शीर्षक दिया गया है। पुस्तक के अन्तर्गत अधिकारों की अनुक्रमणिका तथा विषयानुक्रमणिका भी साथ देदी गई हैं। पृष्ठ ४५०। साजिल्द। १।)

आयुर्वेदीय नावनीतकम्—प्राचीन आयुर्वेदिक समय के बहुत ऐसे ग्रन्थ लुप्त हैं जिनका हमें नाम भी ज्ञात नहीं। उन्हीं में से एक १७०० वर्ष का प्राचीन हस्तलिखित 'नावनीतकम्' नामक ग्रन्थ एक अंग्रेज़ विद्वान् को पूर्वीय तुर्किस्तान में चीन देश के निकट मिला है। जिसे भारतयि गवर्नमेंट ने प्राचीन भाषाओं तथा लिपियों के निपुण विद्वान् डा० हार्नले से ठीक कराकर छपवाया दाम १५०) प्रति पुस्तक के लगभग रखागया। इसी पुस्तक को हमने आयुर्वेदिक जनता के लिये छपवाया है। बहुत औषधियों और योगों को कल्पों में विभक्त करके उनके पृथक् २ प्रयोग दिखलाए गए हैं। विशेष करके वाजीकरण, रसायन, अंजन, मुखलेप, अगदतंत्र, वस्तिकर्म, मंत्रसिद्ध और रमल इत्यादि विषयों पर विवरण है। संस्कृत सरल और प्रत्येक श्लोक छन्द बड़ा मनोरञ्जक है। सुनहरी जिल्द। ३)

इसी पुस्तक के राजसंस्करण का दाम ८)

चक्रदत्त सटीक—शिवदास कृत प्राचीन संस्कृत व्याख्या समेत। गुटका सायज़। छपाई कागज़ बहुत बढ़िया। सुनहरी ठप्पेदार जिल्द मूल्य ४) विद्यार्थियों से ३॥)

चक्रदत्त भाषा टीका सहित—रसतरङ्गिणी के प्रणेता कविराज सदानंद शास्त्री प्राणाचार्यकृत सारचन्द्रिका नामक विस्तृत हिन्दी भाषा अनुवाद सहित। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय चक्रदत्त की अनेक व्याख्याएं भिलती हैं किन्तु मूलार्थ को लगाने वाली ऐसी सरल टीका आजतक कोई नहीं बनी क्योंकि टीकाकार ने इसमें सरल तथा सरस अनुवाद करने के अतिरिक्त अनेक सन्दिग्ध तथा विषम स्थलों पर प्राचीन आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख कर दिया है। इसके अतिरिक्त कुल योगों की वर्त्तमान-कालोचित मात्राओं का भी उल्लेख किया गया है। जो आपको किसी भी अन्य टीका में नहीं मिल सकेगा। इस व्याख्या के साथ "रत्न प्रभा" नामा टिप्पणी द्वारा जटिल विषयों का विवेचन करते हुए विद्यार्थियों की सब शंकाओं का सुगम भाषा में समाधान किया गया है। मूल पाठ को विशेष यत्न से खोज करके शुद्ध किया गया है। छपाई कागज़ बहुत वढ़िया है। नवीन संस्करण। पृष्ठ संख्या ५४५॥ सजिल्द। इस समय जो दूसरा चक्रदत्त भा॰ टी॰ मिलता है वह वेंकटेश्वर प्रेस मुद्रित है। उसकी पृष्ठ संख्या केवल ३६२ है उसमें उपरोक्त विशेषताएँ बिलकुल नहीं हैं जिसका मूल्य ३॥) उन्हों ने रखा हुआ है। किन्तु हमारे चक्रदत्त के पृष्ठ अधिक होने पर भी हमने केवल ४) मूल्य रखा है। विद्यार्थियों से केवल ३॥)

इसी पुस्तक का लायब्रेरी राजसंस्करण का मूल्य ८)

कैयदेवनिघण्टु अर्थात् पथ्यापथ्यविबोधक भाषा टीका सहित—कैय्यदेव विरचित यह प्राचीन ग्रन्थ अभी तक लुप्त ही था, जो अब पहली बार छपा है। सम्पादक हैं:—आयुर्वेचार्य सुरेन्द्रमोहन बी. ए. वैद्यविद्यानिधि-प्रिंसिपल, दयानन्दायुर्वेदिक कालेज, लाहौर। १ भिन्न २ भारतीय भाषाओं के नाम (२) वानस्पतिक संज्ञाए (Botanical names) जो वर्त्तमान वैज्ञानिक संसार में प्रचलित हैं (३) द्रव्यों का आकृति-परिचय अर्थात् अमुक द्रव्य वृक्ष है वा लता वा गुल्म, उस के भिन्न २ भागपत्र, शाखा, मूलादि की आकृति का वर्णन (४) द्रव्यों का उत्पत्तिस्थान (५) पर्यायों का शब्दार्थ तथा भावार्थ(६)मात्रा (७) व्यवहार विधि अर्थात् अमुक द्रव्य का चूर्ण, क्वाथ, लेहादि कैसे और कितना व्यवहार किया जाए ? (८) विशिष्ट गुण (९) शास्त्रों में अमुक द्रव्य का उल्लेख किस २ योगमें मिलता है (१०) छोटे २ अनुभूत योग (११) ४० पृष्ठ की दीर्घ भूमिका में रस, वीर्य, विपाकादि, निघण्टु परिभाषा पर विस्तृत लेख इत्यादि भाव इस ग्रन्थ को अन्य सब वर्त्तमान निघण्टुओं से उत्कृष्ट बनाते हैं। सजिल्द। पृष्ठ लगभग ५००। ५)

बृहद् रसराज सुन्दर भाषा टीका—रसों में यह प्रधान ग्रन्थ है। रस बनाने की विधि के साथ यंत्रादि के चित्र भी दिए गए हैं। सजिल्द। ३।)

विरेचन कल्पलता भाषा टीका—इसमें जुलाब लेने की गुणकारक औषधियों का संग्रह है। ≠)॥

वमनकल्पतरु भाषा टीका—इस में कै अर्थात् उल्टी कराने की औषधिएँ और क्रियाएँ वाग्भट्टानुसार लिखी हैं। ≈)॥

आरोग्यशास्त्र—लेखक—कवि हरदयाल जी वैद्यवाचस्पति। इसमें दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, वायु, जल भोजन विधान, भोज्य पदार्थों का वर्णन, शिशुपालन, रोगी सेवा, मलमूत्र निष्कासन, प्लेग, हैजा, इन्फलुएंजा, चेचक, निमोनिया प्रभृति से बचने के उपाय आदि पर नए और पुराने विज्ञान के आधार पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। एवं प्रतिदिन घरों में काम आने वाले अनुभूत योग भी दिए हैं। हिन्दी। १)

तिब्ब अकबर—हकीम अकबर अलीखाँ लिखित तथा हिन्दी भाषा में अनुवादित। इसमें २६ अध्यायों में शिर से पैर तक स्त्री, पुरुष लड़के आदि के सम्पूर्ण रोगों की उत्पत्ति, निदान, कारण, स्वरूप, लक्षण और यूनानी मत से एक एक रोग पर सैकड़ों औषधों का उपचार वर्णित है। सजिल्द। ७)

न्याय वैद्यक और विषतंत्र—मैडीकल जूरिस प्रूडेंस एण्ड टौक्सीकौलौजी का हिन्दी अनुवाद। २)

स्वास्थ्य चिन्तामणि—कविराज सदानंद कृत हिन्दी अनुवाद सहित। इस पुस्तक में चरकसंहिता के आधार पर स्वास्थ्य ठीक रखने के विषय पर विस्तृत लेख है। ॥)

कामविषयक-ग्रन्थाः ।

रतिरहस्य सटीक—महाकवि कोक्कोक विरचित । श्री काञ्चीनाथ कृत दीपिका नाम्नी संस्कृत व्याख्या समेत । ३)

नागरसर्वस्व सटीक—पद्मश्री-विरचित । जगज्ज्योतिर्मल्ल विरचित संस्कृत व्याख्या समेत । सटिप्पण । ४)

अनङ्गरङ्ग मूल—महाकवि कल्याणमल्ल विरचित । सजिल्द । १)

कामसूत्र सटीक—महर्षि वात्स्यायन प्रणीत । यशोधर विरचित जयमंगला नाम्नी संस्कृत टीका सहित । सजिल्द । ५)

अनंगतरंग (रतिरहस्य हिन्दी भाषा टीका सहित) २॥)

नागरसर्वस्व हिन्दी भाषा टीका सहित २॥)

पंचसायक—हिन्दी अनुवाद सहित । २)

रतिवल्लभ—हिन्दी अनुवाद सहित । १॥)

रतिरत्नप्रदीपिका—हिन्दी अनुवाद सहित । १॥)

रतिशास्त्र तथा रतिमंजरी—हिन्दी अनुवाद सहित २)

कामसूत्र-महर्षि वात्स्यायन प्रणीत—हिन्दी अनुवाद सहित । सजिल्द ५)

नोट—आजतक सकल भारत तथा विदेश में छपी हुई सर्व आयुर्वैदिक पुस्तकों का सम्पूर्ण सूचीपत्र पृथक् छप कर तय्यार है जो डाक व्यय के लिए एक आने का टिकट प्राप्त होने पर विना मूल्य भेजा जाता है ।

पता—**मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास**
अध्यक्ष-संस्कृतपुस्तकालय
सैदमिट्ठा बाज़ार-लाहौर ।







मुद्रक—खज़ानचीराम जैन, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रैस, सैदमिठ्ठा बाज़ार, लाहौर ।

प्रकाशक—ला० तुलसीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्रायटर, फर्म मेहरचन्द लक्ष्मणदास,
संस्कृत हिन्दी पुस्तकविक्रेता, लाहौर ।